35

विविध साहित्यिक आयोजन एवं परिचर्चाएँ तथा अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन

मेरे साहित्यिक जीवन का प्रारंभ 1935-36 से समझना चाहिए जब मैं स्वामी नारायणानंदजी के संपर्क में आया। उस समय मेरी आयु 11-12 के लगभग थी और मैं 9वीं कक्षा का विद्यार्थी था। अपनी उम्र के हिसाब से मैं ऊँची कक्षा में था और यदि बीच में एक वर्ष अस्वस्थता के कारण पढ़ाई छोड़कर राजस्थान न चला जाता तो 14 वें वर्ष में ही मैंने इंट्रेस की परीक्षा पास कर ली होती। स्वामी नारायणानंदजी से शिक्षा और विस्मिल इलाहाबादी से प्रशंसा के प्रसंग मैं पहले लिख चुका हूँ। इसलिये यहाँ उसे पुनः नहीं दुहराऊँगा। बिस्मिल इलाहाबादी जितने अच्छे कवि थे उतना ही सुंदर उनका पढ़ने का ढंग भी था। जब भी वे गया पधारते तो मैं उनसे मिलता और उनकी गोष्ठियों में भाग लेता। एक बार मैं उनके घर पर इलाहाबाद भी गया था। उनके अतिरिक्त गया के प्रसिद्ध साहित्यकार और कवि श्री मोहनलाल महतो ने मुझे अपना अपार स्नेह दिया तथा प्रारंभ से ही मुझे प्रोत्साहित किया। 14-15 वर्ष की कच्ची उम्र में थोड़ा-सा भी प्रोत्साहन व्यक्ति को ऊँचा उठा देता है। इसके विपरीत यदि उस समय कोई हतोत्साह कर देता है तो सारा विकास ठप्प हो जाता है और प्रतिभा का अंकुर अकाल में ही मुरझा जाता है। सौभाग्य से न तो मुझे घर पर ही कोई रोक-टोक करनेवाला था जो मुझे फटकारता और कविता के काल्पनिक लोक से वास्तविक जगत में उतरने की सलाह देता और न स्कूल या कालेज के प्रारंभिक कवि-जीवन में कोई ऐसी उपेक्षा या अवमानना का सामना ही करना पड़ा जो इस मार्ग से विचलित कर देता। सदा सब ने हाथोंहाथ उठा लिया। बेढबजी ने तो मेरे **कविता** नामक प्रथम कविता-संग्रह के आवरण पृष्ठ पर मेरे विषय में लिख दिया था '17-18 वर्ष की अल्पावस्था में हिंदी के किसी कवि ने भाव और भाषा में कदाचित् ही ऐसी प्रौढ़ता का परिचय दिया है।' बेढबजी तुलसीदास के अनन्य भक्त थे और उनके विषय में सदा **न भूतो न भविष्यति**

कहा करते थे। मेरी पुस्तक छपने पर उन्होंने कहा कि मुझसे भूल हो गयी। मैंने उपर्युक्त वाक्य कैसे लिख दिया, क्योंकि हिंदी के कवियों में तो तुलसीदास भी आ जाते हैं। मैंने हँसकर कहा 'मास्टरसाहब, (बेढबजी को मैं और सभी बनारस के साहित्यिक मास्टरसाहब ही कहते थे।) क्या कहीं तुलसीदासजी की 18 वर्ष की अल्पावस्था की लिखी कोई रचना तुलना के लिए उपलब्ध है ! मैंने कह तो दिया परंतु तुलसीदास के काव्य को अपने लिए चुनौती भी मानने लगा। यह प्रतिस्पर्धा की भावना मेरे साहित्य के लिए हितकर ही हुई। जब आप सूरज की ऊँचाई तक पहुँचने की कामना करेंगे तभी तो हजारों फीट ऊँची उड़ान भर सकेंगे। ताड़ और खजूर के पेड़ों की ऊँचाई को आदर्श मानकर चलने से तो बीस-तीस फीट ही ऊँचे पहुँच सकते हैं।

मिरजापुर का कवि सम्मेलन

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में पहुँचने पर मैं बेढबजी के साथ जिस बड़े कविसम्मेलन में पहली बार सम्मिलित हुआ था वह 1940-41 के आसपास मिरजापुर में हुआ था। पं. रामचंद्र शुक्ल उसके अध्यक्ष थे। कवि-सम्मेलन के दूसरे दिन पहाड़ी पर खूब जमकर गोष्ठी भी हुई थी। उस गोष्ठी का सभापतित्व भी पं. रामचंद्र शुक्ल ने ही किया था। वहीं बच्चनजी से मेरा प्रथम परिचय हुआ था। पं. रामचंद्र शुक्ल का अध्यक्षीय भाषण मुझे आज तक याद है जिसमें उन्होंने कहा था कि प्रकृति के मुक्त वातावरण में काव्य-गोष्ठियां होने से ही कविता का सही आनंद प्राप्त होता है। बेढबजी ने, जिनके साथ मैं उक्त कविसम्मेलन में गया था, जब अपनी कविता का अंतिम बंद

वे गोरी थीं, मैं काला था,

फिर भी उनका मतवाला था,

मैं रोज रगड़ता साबुन पर चेहरे का रंग निखर न सका,

मैं जीवन में कुछ कर न सका

पढ़कर अपना आसन ग्रहण किया तो शुक्लजी ने धीरे से कहा 'और कितना निखरेगा हो'!

बेढबजी अत्यंत गौर वर्ण के थे और मैं उनके साथ ही कविसम्मेलनों में जाता था इसलिए मेरे गौरवर्ण के कारण, मुझे बहुत से लोग उनका पुत्र समझते थे। बेढबजी के गौरवर्ण पर ही शुक्लजी की वह मधुर चुटकी थी।

मिरजापुर के उस कविसम्मेलन में भारत के कितने ही प्रसिद्ध कवि पधारे थे। नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सिह सुमन, बच्चनजी, श्यामनारायण पांडे तो थे ही, कमल नामक एक नवोदित कवि भी अपने साथ ब्रह्म नामक एक किशोर कवि को लेकर पहुँचा था। जिस कमरे में वे दोनों ठहराये गये थे उसीमें हिंदु विश्वविद्यालय के एक हास्यरस के कवि का भी डेरा था। कमलजी ब्रह्म के साथ ज्यों ही थोड़ी रोमांटिक चर्चा छेड़ते, वह हास्यरस का कवि, जो उनकी नीयत ताड़ गया था, खाँसने का उपक्रम करके बैठा हो जाता और बत्ती जला देता। उसके उठते ही कमलजी का सारा मजा किरकिरा हो जाता। थोड़ी देर बाद जब फिर वह खर्राटे भरने का ढोंग रचकर करवट लेकर सो जाता और जब पुनः कमल महाशय अपनी पँखुरिया फैलाने का प्रयत्न करते तो वह फिर उसी प्रकार रंग में भंग कर देता। इस प्रकार सारी रात तीनों व्यक्तियों ने जागते बितायी। हास्य रस के कवि को तो व्यंग्य का मसाला मिल गया था। उसने एक कवित्त जोड़कर रात की घटना का नमक-मिर्च लगाकर ऐसा वर्णन किया कि कमल और ब्रह्म को मुँह छिपाकर भागते ही बना।

यह कविसम्मेलन अंतिम समारोह था जिसमें शुक्लजी ने भाग लिया था। मिरजापुर से लौटने के 4-5 दिनों बाद ही वे दिवंगत हो गये। मेरा सौभाग्य था कि मैं अनेक बार उनको अपनी कविताएं सुनाकर उनका आशीर्वाद पा सका। इसी प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा के ज़नक बाबू श्यामसुंदरदासजी के घर पर मैं बेढबजी के साथ **कविता** नामक अपनी सद्यः प्रकाशित काव्यपुस्तक लेकर पहुँचा तो वे बहुत प्रसन्न हुए और बेढबजी से बोले, 'बेढबजी ! मैं अस्वस्थ हूँ इसलिए इस पुस्तक पर लिख नहीं पाऊँगा। आप प्रशंसा में जो लिखेंगे, मैं उस पर हस्ताक्षर कर दूँगा।' फिर मेरी ओर मुड़ते हुए बोले, 'भाई, पुस्तक भेंट करते समय तुमने जो मेरा नाम लिखा है, उसके पहले 'डाक्टर' तो और जोड़ दो। अब तो कम से कम हिंदू विश्वविद्यालय ने मुझे मानद डाक्टर की उपाधि दे ही दी है, डाक्टर कहलाने का आनंद तो ले सकूँ।' जिन बाबू श्यामसुंदर दास की पुस्तकों को पढ़कर हिंदी के कितने ही लोग डाक्टर बन गये और जो आधुनिक खड़ी बोली के निर्माताओं में तथा **नागरी प्रचारिणी सभा** जैसी संस्था के संस्थापकों में थे, उनकी यह उक्ति मुझे कुछ अटपटी-सी लगी फिर भी मैंने हड़ताल (संकेत चिह्न) लगाकर उनके नाम के आगे 'डाक्टर' का शब्द जोड़ दिया। अपनी पुस्तक पर बेढबजी की लिखी हुई सम्मति पर उनके हस्ताक्षर की

बात मेरे गले नहीं उतरी। मैंने उनसे कहा कि आप तो बस मुझे अपना आशीर्वाद दे दें। यही मेरे लिए सब से बड़ी प्रशंसा है।

बेढबजी ने प्रधान मंत्री की हैसियत से नागरी प्रचारिणी सभा में बाबू श्यामसुंदर दास के डाक्टरेट पाने के उपलक्ष्य में उनके अभिनंदन की योजना उनके सामने रक्खी जिसको उन्होंने इसी शर्त के साथ स्वीकार किया कि सभा का, जो उनकी पुत्री के समान है, एक भी पैसा उस आयोजन में खर्च न किया जाय।

काशी में हुए 1939 के हिंदी साहित्य सम्मेलन में मैंने प्रथम वर्ष के विद्यार्थी की हैसियत से कविता पढ़ी थी। उस समय तक मैं बेढबजी के संपर्क में नहीं आया था और स्वयं आगे बढ़कर मैंने अपना नाम कविता पढ़ने के लिए बढ़ा दिया था। भारी भीड़ के सामने, जिसमें निरालाजी, बच्चन जी, आदि सुप्रसिद्ध कवि उपस्थित हों, कविता पढ़ने का साहस करना मेरी बालसुलभ चपलता ही कही जायगी। संयोजक ने भी न जाने क्या सोचकर या मेरी 14-15 वर्ष की अवस्था पर तरस खाकर मुझे अवसर दे दिया था। उसके बाद उसी वर्ष दिसंबर में बेढबजी की स्नेहमय छत्रछाया पाने के बाद और अपनी कविता **भावों की रानी** के द्वारा काशी के साहित्यिक वर्ग में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद तो मुझे याद नहीं है, अपनी कविता पढ़ने का अवसर पाने के लिए मुझे कोई चिंता कभी हुई हो। फिर तो संयोजकों को ही यह चिंता रहने लगी कि वे मुझे मंच पर लाने में सफल हो सकें।

पूना का अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन

1940 में पूना में हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन की कई मनोरंजक घटनाएं स्मृति में अंकित हैं। उन दिनों स्त्रियों को, चाहे वे विद्यार्थी किशोरियाँ ही क्यों न हों, आज कल की तरह सभा सोसाइटियों में मुक्त रूप से भाग लेते देखा जाना संभव नहीं था। दफ्तरों में भी कदाचित ही कोई स्त्री कर्मचारी लिपिक या अधिकारी के रूप में दिखाई देती थी। शौकिया रूप से नाटक खेलनेवालों को स्त्री का अभिनय करने के लिए किशोर बालकों का ही आश्रय लेना पड़ता था। परंतु महाराष्ट्र प्रदेश इसका अपवाद था। वहाँ उस समय भी स्त्रियाँ पुरुषों के कंधों से कंधा मिलाकर कार्य करती थीं। यही नहीं, बाजार से साग-सब्जी तथा अन्य घरेलू सामान खरीदकर लाने का कार्य भी स्त्रियाँ ही करती थीं। आज तो दिल्ली, कलकत्ता, लखनऊ आदि बड़े-बड़े नगरों के बाजारों में तथा सरकारी दफ्तरों में स्त्रियों की भरमार दिखाई देगी परंतु उन

दिनों ऐसा दृश्य अपवाद-स्वरूप ही मिलता था। पूना हिंदी साहित्य सम्मेलन में स्वयं-सेवकों का सारा कार्य कालेज की किशोरियों ने ही सँभाल रक्खा था। मराठी और हिंदी की लिपि एक होने से वे साहित्य सम्मेलन में आगत कवियों और साहित्यकारों के औटोग्राफ (हस्ताक्षर) भी बड़े चाव से अपनी हस्ताक्षर-पुस्तिका में बटोर रही थीं। किशोरावस्था में कविता के प्रति विशेष रुचि होती है अतः मैं और मेरे मित्र हास्यरस के कवि बेधड़क बनारसी, जो मुझसे 5-7 वर्ष बड़े थे, उनके औटोग्राफ लेने के शौक के विशेष रूप से लक्ष्य बने हुए थे। 1940 में मेरी अवस्था मात्र 16 वर्ष की थी और कवि-रूप में विशेष ख्याति होने के कारण मैं उनके विशेष कुतूहल का भी पात्र था क्योंकि उनमें से अधिकांश या तो मेरी समवयस्क थीं या मुझसे अवस्था में बड़ी थीं। ऐसे ही एक बार ऑटोग्राफ लेनेवाली किशोरियों की भीड़ में, बेढबजी, हरिभाउ उपाध्याय और अन्य साहित्यकारों की उपस्थिति में, हम दोनों घिर गये। बेधड़कजी में और मुझमें साहित्यिक नोक-झोंक चलती रहती थी। उन दिनों काशी के दैनिक पत्र **आज** या **संसार** के रविवासरीय संस्करण में जब भी मेरी कोई कविता छपती तो उसके दूसरे अंक में उस कविता की बेधड़कजी की लिखी पैरोडी छप जाती थी। हम दोनों को ऑटोग्राफ लेनेवाली किशोरियों से घिरे देखकर बेढबजी ने विनोदवश कहा, 'ऑटोग्राफ में तुम दोनों कोई तुरत नयी रचना बनाकर लिखो तब तुम्हारी तारीफ है। कवियों के लिए भला इससे अधिक कविता के लिए प्रेरणाप्रद वातावरण और क्या होगा।' लड़कियाँ ऑटोग्राफ के साथ कविता की एक दो पंक्ति लिखने की माँग भी कर रही थीं। हम दोनों ने बेढबजी की चुनौती स्वीकार कर ली। पहला नंबर बेधड़क का था और उसने एक-दो मिनट सोचकर तुरत बनाकर दो पंक्तियाँ लिख मारीं और उन्हें पढ़कर सब को सुना भी दिया। वे पंक्तियाँ जो इस प्रकार थीं, मुझे आज भी याद हैं।

देता हूँ मैं बेधड़क, तुमको ऑटोग्राफ
जीवन का मोटो यही, लाफ, लाफ बस लाफ

उन्हें सुनकर लड़कियाँ तो खिल ही गयीं, उपस्थित सभी साहित्यिक 'वाह-वाह' करने लगे। अब मेरी बारी थी। उपर्युक्त पंक्तियों जैसी फड़कती हुई परंतु गंभीर दो पंक्तियाँ मुझे लिखनी थीं जो तुरत की जोड़ी हुई हों। मैं करीब-करीब साहस छोड़ चुका था। मैंने औटोग्राफ लेने को उत्सुक लड़की से कहा, 'क्या लिखूँ, समझ में नहीं आता।' वह हँसकर बोली 'कुछ भी भला-सा

लिख दीजिए।' 'भला-सा' का मराठी-हिंदी का प्रयोग जिस भोलेपन से उसने किया, उसने मेरी प्रतिभा को जगा दिया और मैंने तुरंत उसकी ऑटोग्राफबुक पर लिख दिया --

प्राण ! तुम्हारे भले-बुरे की मुझसे परख न होती

हँसती हो तो फूल बरसते, रोती हो तो मोती

अपनी पंक्तियाँ जब मैंने जोर-जोर से पढ़कर उपस्थित सभी साहित्यिकों को सुनाईं तो इस बार बेधड़क की पंक्तियों से अधिक मेरी पंक्तियों पर प्रशंसा की धूम मच गयी और मैदान मेरे हाथ रहा।

पूना अधिवेशन का एक मनोरंजक प्रसंग था विषय-समिति में लिपि-संबंधी वाद-विवाद। उन दिनों हिंदी और हिंदुस्तानी भाषा का तथा नागरी और रोमन लिपि का वाद-विवाद प्रधान रूप से देश के समक्ष उपस्थित था। सम्मेलन में काका कालेलकर हिंदुस्तानी के समर्थक होते हुए भी रोमन लिपि के पक्ष में नहीं थे। महाराष्ट्र में अधिवेशन हो रहा था और मराठी भाषा की लिपि भी नागरी ही थी इसलिए लिपि के संबंध में यों भी वहाँ नागरी का पक्ष ही अधिक सबल था। फिर भी कुछ प्रतिनिधियों द्वारा रोमन लिपि का समर्थन किये जाने पर काका कालेलकर ने उठकर हॉल में टँगे बोर्ड पर खली से बड़े अक्षरों में रोमन लिपि में लिखा --

'Kam Karana hai'

और प्रतिनिधियों से पूछा। आप इसे क्या पढ़ेंगे ! इस रोमन में लिखे वाक्य को अनेक प्रकार से पढ़ा जा सकता है जैसे --

काम करना है, काम कराना है, कम कराना है, कम करना है,। उन्होंने पूछा कि क्या ऐसी लिपि को आप स्वीकार करना चाहेंगे जिसमें लिखे हुए हर वाक्य को अपनी कल्पना से पढ़ा जाय और प्रत्येक व्यक्ति भिन्न प्रकार से पढ़े। इस बात पर जो ठहाका लगा उसमें रोमन लिपि का प्रश्न हवा में उड़ गया। जहाँ तक हिंदुस्तानी का प्रश्न है, वह तो 1939 के बनारस-अधिवेशन में ही सम्मेलन के मंच से निर्णीत हो चुका था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि देश के स्वतंत्र होने पर भारत के संविधान में राष्ट्रभाषा के लिए अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी का स्वीकृत होना गुजरात, महाराष्ट्र जैसे प्रदेशों के समर्थन के कारण ही संभव हो सका था। कांग्रेस पार्टी के अंदर इस विषय पर बहुत वादविवाद हुआ था और प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के विरोध करने पर भी केवल महाराष्ट्र और

गुजरात के प्रतिनिधियों के समर्थन के बल पर केवल एक मत से टंडनजी हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर स्वीकृत करा सके थे। इस पुनीत काम में पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। कैसे उनके अनुरोध पर एक कांग्रेसी सदस्य ने अपना मत कांग्रेस पार्टी की बैठक में हिंदी के पक्ष में दिया था जिस एक मत से हिंदी राष्ट्रभाषा के लिए चुनी गयी थी, इसका वर्णन चतुर्वेदीजी की **निजी वार्ता** नामक निबंध-पुस्तक में मिलेगा।

बेढबजी मुझे भी पूना के अधिवेशन में **प्रसाद परिषद्** का प्रतिनिधि बनाकर अपने साथ ले गये थे। पूना जाते वक्त हम लोग बंबई में बेढबजी के एक मित्र के यहाँ ठहरे थे, जो लोकसभा के भी मेंबर थे। मुझमें बाल-सुलभ उत्सुकता फिल्म की सूटिंग को देखने की थी। जिसकी व्यवस्था हमारे आतिथेय महोदय ने तुरत करवा दी। रात में 9 बजे मैं बेढबजी के साथ स्टूडियों में उसे देखने गया। उसमें एक युवती को गाते हुए पूजा की धूपदानी सारे घर में घुमानी थी। इसीमें उसे दो घंटे लग गये। कभी कहीं भूल हो जाती, कभी कहीं। वह कभी धूपदानी को पकड़ने में ही भूल कर देती, कभी धूपदानी दिखाने के स्थानों में से कोई स्थान छूट जाता डाइरेक्टर चिल्ला उठता 'कट' और उसे फिर सारा काम दुबारा शुरू करना पड़ता। मैं देखते-देखते ऊब गया और मुझे नींद भी आने लगी। बेढबजी तो मेरे कारण ही बैठे थे। मेरे घर चलने की इच्छा करते ही वे उठकर खड़े हो गये और हम लोग बाहर चले आये। उसके बाद से फिल्मों की सूटिंग देखने की मेरी सारी उत्सुकता समाप्त हो गयी। फिल्म की रूमानियत का नशा सूटिंग देखने से काफूर हो जाता है।

1940 के उक्त पूना हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति तो श्री संपूर्णानंदजी थे परंतु वे व्यक्तिगत सत्याग्रह में जेल चले गये थे इसलिए उनके स्थानापन्न बनकर पुरुषोत्तमदासजी टंडन ने उस अधिवेशन का सभापतित्व किया। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से उसमें काका कालेलकर भी आये थे। स्थायी समिति की बैठकों में बेढबजी के साथ मैं भी रहता था। किसीने मेरे अल्पवय पर कभी कोई आपत्ति नहीं की, इसलिए मैं समझता हूँ बेढबजी ने मुझे सदस्य बनाने की औपचारिकताएं पूरी कर ली थीं। अन्य सदस्यों में स्वागत-समिति की ओर से पुन्ताबेकरजी थे जो काका कालेलकर की हिंदुस्तानी के विरोधी थे और टंडनजी के समर्थक थे। एक सदस्य प्रभाकर माचवे थे जो उस समय नवोदित साहित्यकारों में थे।

मुझे याद है, 1945 में काका कालेलकर गया आये थे और मैंने जिला हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से उनके भाषण के लिए एक सभा बुलायी थी। वहाँ उन्हें ले जाते समय उन्होंने मुझसे कहा था, 'या तो आप हिंदुस्तानी को स्वीकार करें या फिर पाकिस्तान की माँग को।' उन दिनों मैं शुद्ध हिंदी का पक्षधर था और कहा करता था कि मेरी कविता में जो एक भी उर्दू शब्द निकालकर दिखा देगा उसे मैं एक अशर्फी इनाम में दूँगा। मेरी **चाँदनी, कच-देवयानी, उषा** और **अहल्या** उसी काल की रचनाएं हैं जिनमें शुद्ध साहित्यिक हिंदी के अलावा उर्दू की झलक भी नहीं मिलेगी। **कविता** नामक मेरा प्रथम काव्य-संग्रह इसका अपवाद है पर वह मेरी प्रारंभिक रचना है जिसमें बालकोचित अनुकरण भी हैं, इसलिए उसको उदाहरण नहीं बनाया जा सकता था। साहित्य में मेरी प्रवृत्ति धारा के विपरीत चलने की रही है। 1940 के दशक में हिंदी कविता में गीतों की धूम थी। यद्यपि मैथिलीशरणजी प्रबंधों की रचना में संलग्न थे परंतु उनके काव्यग्रंथ छायावादी गीतों के सामने जनसाधारण का ध्यान नहीं खींच पाते थे। मैंने उस परिस्थिति में एक ओर तो हिंदी में अंग्रेजी की प्रसिद्ध काव्य-विधा **सॉनेट** का प्रवर्तन किया, दूसरी ओर **बलि-निर्वास** जैसे काव्य-नाटक और **कच-देवयानी, उषा, अहल्या** जैसे प्रबंध-काव्यों का प्रणयन किया जो छायावादी गीतों की सरसता प्रबंधकाव्य में भी सम्मिलित किये हुए थे। यद्यपि प्रसादजी की **कामायनी** भी ऐसा ही प्रबंध था परंतु प्रारंभिक सर्गों के बाद वह गहरी दार्शनिकता से बोझिल हो गया था। मेरे महाकाव्य **उषा** के संबंध में बच्चनजी ने लिखा था कि मैं प्रायः एक-दो बैठकों में उसे पढ़ गया। यह **उषा** की **कामायनी** से तुलना में विशेष ध्यान देने की बात है। अपने प्रबंधकाव्यों की रचना के बाद हिंदी में ग़ज़लों का सूत्रपात करने में अपनी भाषा में कितना परिवर्तन मुझे करना पड़ा है, यह पूर्व-वर्णित पुस्तकों से मेरी ग़ज़लों की तुलना करने से सहज ही समझ में आ जायगा। अपनी भाषा का वह प्रयोग मैंने अत्यंत मनोमंथन के बाद ही किया था। मैंने सोचा था कि जब मैं साहित्य में ग़ज़लों के माध्यम से क्रांति करना चाहता हूँ तो मुझे सबसे पहले अपने विचारों में, अपनी भाषा में और अपनी शैली में, अर्थात् अपने स्वयं में भी क्रांति करनी होगी। आज जो ग़ज़लों का दौर हिंदी में छाया हुआ है उससे मुझे पूर्ण संतोष है कि मेरा प्रयास सफल हो गया। दल में बँधे हुए साहित्यिकों द्वारा, प्रचार-प्रसार की चेष्टा के अभाव में भले ही मुझे हिंदी में ग़ज़लों के प्रवर्तन का श्रेय न दिया जाय, सहृदय-समाज ने और संगीतप्रमियों ने तो मुझे हाथों-हाथ उठा ही लिया

है और मेरी ग़ज़लों को अपना ही लिया है। मेरे प्रथम ग़ज़ल-संग्रह **सौ गुलाब खिले** के सन् 1973 में प्रकाशित होने और सन् 1975 में हिंदी संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत होने के बाद ही 1976 में दुष्यंत कुमार का ग़ज़ल संग्रह **साये में धूप** प्रकाशित हुआ जब कि उसके 5-6 वर्ष पूर्व भी 1970-71 के बीच, हिंदी ग़ज़ल के नाम से काशी के **साप्ताहिक आज** में मेरी ग़ज़लें निरंतर छपती रही थीं और 1971 के जून में **साप्ताहिक हिंदुस्तान** में भी हिंदी ग़ज़ल के नाम से मेरे चित्र के साथ मेरी 3 ग़ज़लों का प्रकाशन हो चुका था। प्रगतिवादी कविता के प्रबल पक्षधर श्री त्रिलोचन शास्त्री मेरी ग़ज़लों के प्रथम संग्रह **सौ गुलाब खिले** की विस्तृत भूमिका 1973 में लिख चुके थे, परंतु गुट का इतना बड़ा आग्रह था कि गोरखपुर के एक नये कवि के ग़ज़ल-संग्रह में, 8-10 वर्ष के बाद, भूमिका लिखतें समय, उन्होंने 20-25 हिंदी में ग़ज़ल लिखनेवालों के नाम गिनाये परंतु हिंदी ग़ज़लों के प्रवर्तक गुलाब खंडेलवाल को छूना भी पाप समझा। जिन्होंने मेरी ग़ज़लों को नहीं पढ़ा या इस संबंध में जिन्हें मेरी कोई जानकारी नहीं हो, उनके द्वारा इस प्रकार की उपेक्षा तो सह्य है परंतु त्रिलोचनजी तो उक्त भूमिका लिखने के बाद भी मुझसे मिलते रहे हैं और 1939 से मेरे मित्र रहे हैं, उन्होंने हिंदी ग़ज़लों के प्रवर्तक का नाम भी लेने सें परहेज किया, इसका क्या कारण हो सकता है, इसे समझनेवाले भलीभाँति समझ लेंगे। यहाँ एक मजे की बात तो यह है कि जब मैं 1939 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्रथम वर्ष का विद्यार्थी था तो सब से पहली जो कविता मुझ पर लिखी गयी वह त्रिलोचन शास्त्री की ही थी। मुझे एक विद्यार्थी ने वह लाकर दी थी। उसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ थीं ---

कल मैंने गुलाब को देखा

सुंदरता की महिमा लेकर

उस महिमा को वाणी देकर

अचरज से मैं मौन रह गया जब मैंने उसको मृदु स्वर में कविता गाते देखा

उसके बाद एक कविसम्मेलन में जब त्रिलोचनजी से परिचय हुआ और मैंने उपर्युक्त कविता के बारे में उनसे पूछा तो उन्होंने झेंपकर मुँह छिपा लिया। काशी में उन दिनों मैं कवि के साथ कविता का विषय बन गया था और वहाँ से निकलनेवाले साप्ताहिक पत्रों में शायद ही कोई ऐसा अंक जाता हो जब मुझ पर पैरोडी के रूप में कोई न कोई व्यंग्यकविता न प्रकाशित होती हो। एक बार

तंग आकर जब मैंने बेढबजी से कहा तो उन्होंने कहा, 'गुलाब, इन बातों से ऊपर उठ जाओ। तुम्हारे बाहरी रूप-रंग पर की गयी ये आलोचनाएं समाप्त हो जायँगी, तुम्हारा कविरूप शाश्वत रहेगा।' मैंने उनकी बात गाँठ बाँध ली।

कविसम्मेलन के कितने ही आयोजनों में गोपालसिंह नेपाली, बच्चनजी, नरेंद्र शर्मा, श्यामनारायण पांडे, शंभुनाथ सिंह आदि के साथ मुझे कविता-पढ़ने का अवसर मिलता रहा क्योंकि बनारस उन दिनों हिंदी काव्यधारा का केंद्र था जो स्थान बाद में इलाहाबाद का हो गया और उसके बाद अब दिल्ली का हो रहा है। टीचर्स ट्रेनिंग कालेज के एक कविसम्मेलन के विलंब से समाप्त होने के कारण अतिरिक्त सवारी न मिलने पर मैं और निरालाजी एक ही रिक्शे पर रवाना हुए। वे बेढबजी के यहाँ ही ठहरे थे और मैं भी वहीं छुट्टी के दिन बिताता था। रास्ते में बातचीत के प्रसंग में मैंने निरालाजी से एक बेतुका प्रश्न कर दिया, 'आप कविता लिखने के अतिरिक्त और क्या करते हैं।' निरालाजी ने बड़ी करुण मुद्रा में कहा, 'और मैं क्या कर सकता हूँ।' मैं चुप हो गया। वे भी उसके बाद मौन हो गये। निरालाजी के जीवन की त्रासदी भी उनके इस उत्तर में छिपी थी। इसके कारण उनमें कई ग्रंथियाँ भी आ गयी थीं। उनमें एक ग्रंथि इंफिरियोरिटी कंप्लेक्स अर्थात् हीनभावना की थी जिसका विस्फोट सुपीरियरिटी कंप्लेक्स अर्थात् अपने को बड़ा दिखाने के रूप में होता था। मैंने उनके जीवन से यह शिक्षा ग्रहण की कि आर्थिक विवशता से बचे रहने से ही साहित्यकार का स्व सुरक्षित रहता है अन्यथा वह या तो हीनभाव से ग्रस्त हो जाता है या अपना संतुलन खो देता है। केवल अर्थ के लिए ही नहीं, यश की अपूर्ण इच्छा भी कई प्रकार की मानसिक ग्रंथियों को जन्म देती है। इसीसे भगवान ने गीता में फल की ओर से उदासीन रहकर कर्म करने का मंत्र दिया है। निरालाजी को अर्थाभाव ने ही चिंतित नहीं किया था, उनकी अहंभावना पद और प्रतिष्ठा के मापदंड के लिए राजनेताओं से अपनी तुलना करके भी आहत होती थी। उन्होंने एक दो कविताओं में इसका चित्रण भी किया है। सौभाग्य से मुझे बेढबजी के समान गुरु से दीक्षा भी यही मिली थी कि यश और प्रतिष्ठा के पीछे न तो दौड़ना चाहिए, न उनके लिए अपने सिद्धांतों से डिगना चाहिए। वे मुझसे कहा करते थे कि तुम्हें असली प्रतिष्ठा तो तुम्हारी रचना देगी। एक बार की अपनी दुर्बलता का प्रसंग यहाँ बता दूँ। मेरी पुस्तक **उषा** उत्तर प्रदेश के हिंदी संस्थान में पुरस्कार के लिए भेजी गयी थी। उसके निर्णायकों में संपूर्णानंदजी प्रमुख थे जो उस समय राजस्थान के राज्यपाल थे। वे प्रारंभ से ही मुझ पर स्नेहभाव रखते

थे। बेढबजी के तो वे घनिष्ठ मित्र थे ही। मैंने गया से बेढबजी को उन्हें मेरा स्मरण कराने को लिखा तो उन्होंने मुझे जो डाँट पिलायी वह मुझे आज भी याद है। उन्होंने लिखा कि तुम्हारी पुस्तक अच्छी होगी तो झख मार कर निर्णायक उसे पुरस्कृत करेंगे। हुआ भी वही। बिना मेरी किसी चेष्टा के **उषा** पर उत्तर प्रदेश **हिंदी संस्थान** का पुरस्कार मुझे प्राप्त हुआ।

बेढबजी की शिक्षा का एक और लाभ मुझे हुआ। मैंने 1941 में हिंदी में **सॉनेट** का प्रयोग किया और पचास से ऊपर **सॉनेट** लिखे जो मेरी पुस्तक **सीपी-रचित रेत** में प्रकाशित हुए। फिर महात्मा गाँधी, जिन्हें मैंने अपना मानसपिता मान रक्खा था, के निधन पर मैंने, 31 जनवरी की रात में, 46 **सॉनेट** लिखे जो मेरी पुस्तक **गाँधी-भारती** में संगृहीत हैं। हिंदी में **सॉनेट** का प्रयोग 1941 में उसके अनुरूप छंद और शैली देकर मैंने प्रारंभ किया था और उसी शैली में 1948 के **सॉनेट** लिखे गये थे परंतु हिंदी में **सॉनेट** की चर्चा चलती है तो त्रिलोचन शास्त्री का नाम लिया जाता है। मैंने 1941 से आज तक बीसों बार बनारस की गोष्ठियों में और उसके बाद भी कुछ वर्ष पूर्व तक के कवि-सम्मेलनों में त्रिलोचन शास्त्री का कविता-पाठ सुना है और केवल एक चंपा के कलकत्ता जानेवाली कविता के अतिरिक्त दूसरी कोई रचना उनके मुख से नहीं सुनी जब कि बनारस में प्रसिद्धि थी कि त्रिलोचन शास्त्री नित्य 4-5 कविताएं लिखते हैं और उन्होंने लाख से ऊपर कविताएं लिख डाली हैं। चूँकि त्रिलोचन शास्त्री प्रगतिवादी दल के प्रवक्ता बन गये थे इस लिए **सॉनेट** के प्रवर्तक भी बन गये। इसी प्रकार मैंने 1970 में हिंदी में चतुष्पदियाँ लिखने के बाद हिंदी में ग़ज़लों का प्रयोग करने का विचार किया और 1970 से लेकर 1980 के बीच मेरे चार ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हो गये। ग़ज़लों के संबंध में साहित्यिक गुटबाजी का शिकार मैं किस तरह बना और हिंदी में ग़ज़लों के प्रवर्तन का सेहरा किस प्रकार दूसरे के सिर पर बाँधा गया, इसका विवरण मैं पिछले पन्नों में दे चुका हूँ। इन दोनों बातों से मुझे दुःख तो जरूर पहुँचा, परंतु वह इतना नहीं था कि मुझमें कोई हीन-भावना या ईर्ष्या-द्वेष की भावना उत्पन्न कर सके। यह मेरे साहित्यगुरु बेढबजी के साहचर्य का ही प्रभाव था। ऐसे भी कई अवसर आये जिसके कारण मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी कि सहृदयों और पारखियों की दृष्टि से मेरा कार्य छिपा हुआ नहीं है। इसका केवल एक उदाहरण देना ही यहाँ पर्याप्त होगा। मैं प्रतिवर्ष जब भारत से अमेरिका जाता था तो महादेवीजी को अपनी नवीनतम कृति भेंट करके उनका आशीर्वाद अवश्य ले लेता था। जब

मेरी कृतियाँ **सब कुछ कृष्णार्पणम्** और **हर सुबह एक ताज़ा गुलाब** छपीं तो मैं अपने पुत्र कमलनयन के साथ प्रतापगढ़ से इलाहाबाद महादेवीजी के दर्शनों को गया और उन्हें उक्त दोनों कृतियाँ भेंट कीं। वे उन्हें पढ़ने लगीं और मैं चुपचाप सामने बैठा-बैठा चाय पीता रहा। उन्होंने दोनों पुस्तकें थोड़ी-थोड़ी कई स्थानों से पढ़ीं और जोर से इस प्रकार बोलीं जैसे अपने से बोल रही हों, 'बड़े बेईमान हैं, हिंदीवाले बड़े बेईमान हैं। आपको जो मिलना चाहिए, वह नहीं मिला। आपकी तुलना में तो भारती, अज्ञेय आदि घुटनों के बल रेंग रहे है जब कि आप सरपट दौड़ रहे हैं। हिंदीवालों ने आपको वह नहीं दिया जो आपको मिलना चाहिए था।' इतना बोलकर महादेवी जी मौन हो गयीं और उनकी आँखें छलछला गयीं। मैं भी अपने को नहीं रोक सका। मैंने वाष्पपूरित कंठ से कहा 'महादेवीजी, आप तो हिंदी की सरस्वती-स्वरूपा हैं। आपकी मेरे प्रति इतनी गहरी भावना है तो फिर मुझे दूसरे और क्या देंगे!' महादेवीजी कब माननेवाली थीं। बोली, 'नहीं, नहीं, हिंदीवाले बड़े बेईमान हैं। आपको वह नहीं मिला जो आपको मिलना चाहिए था।' इतना कहते-कहते उनकी आँखें भर आयीं। मेरी आँखें भी अश्रुपूरित हो गयीं। इसके बाद हम देर तक मौन बैठे रहे और महादेवीजी फिर मेरी भेंट की हुई दोनों कृतियों में डूब गयीं। उसके बाद वे उठीं और अंदर से एक पत्रिका उठाकर ले आयीं। बोलीं, 'गुलाबजी, इसमें प्रकाशित गीत मैंने अपनी पुरानी शैली में बहुत दिनों बाद लिखा है, इसे पढ़िये।' मैंने महादेवी के पुराने अंदाज का लिखा वह मार्मिक गीत पढ़ा और सोचा कि इसकी प्रतिलिपि कर लूँ। परंतु संकोचवश वैसा न कर सका।

ऐसा ही प्रेरणाप्रद एक अवसर और आया था जब मेरी कृति **अहल्या** का विमोचन पद्मभूषण पं. श्रीनारायणजी चतुर्वेदी ने कोलकाता में **अर्चना** के तत्त्वावधान में करते समय कहा था —

'आज से दो सौ वर्ष बाद जब किसीसे पूछा जायगा कि इस शताब्दी के कवियों का तथा कविता-पुस्तकों का नाम गिनाये तो उसे गुलाब खंडेलवाल और उनकी कृति **अहल्या** के सिवा कोई दूसरा नाम याद नहीं आयेगा।'

उस आयोजन में पद्मभूषण सीतारामजी सेकसरिया, कोलकाता विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिंदी-विभागाध्यक्ष श्री कल्याणमलजी लोढ़ा, श्री विष्णुकांतजी शास्त्री, अर्चना के मंत्री नथमलजी केड़िया, माननीय गिरधारी लालजी मेहता तथा कोलकाता के अन्य कितने ही संभ्रांत नागरिक और साहित्यकार उपस्थित थे।

ऐसे मार्मिक मूल्यांकन के बाद मुझे हिंदी में किस मूल्यांकन की आवश्यकता रहती या **सॉनेटों** और **ग़ज़लों** के प्रवर्तन का श्रेय न मिलने का दुःख होता! सौभाग्य से मैं अपने साहित्यिक कृतित्व से आर्थिक लाभ की बात कभी नहीं सोचता था। मात्र यश और आत्माभिव्यक्ति का प्रलोभन था जो मुझे निरंतर गतिशील रखता था।

1941 के काशी के और भी एक कविसम्मेलन की मुझे विशेष स्मृति है जिसमें पं. रामचंद्र शुक्ल सभापति थे तथा पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी, पं. रामनरेश त्रिपाठी तथा बेढबजी श्रेष्ठ कविता को पुरस्कृत करने के लिए निर्णायक बनाये गये थे। मेरी कविता सर्वश्रेष्ठ माने जाने पर भी मुझे पुरस्कार से इसलिए वंचित कर दिया गया कि रामनरेश त्रिपाठीजी ने उसे पुरानी रचना बता दिया। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि वह कविता उनकी पुस्तक **कविता-कौमुदी** में प्रकाशित है। बेढबजी ने इसके विरोध में मुझे विशेष पुरस्कार देने की घोषणा की। दूसरे दिन श्रीनारायणजी ने रामनरेशजी से कविता-कौमुदी की पुस्तक में वह कविता दिखाने को कहा तो वे बोले कि वह तो मैंने यों ही कह दिया था। इतनी छोटी उम्र में वैसी कविता कोई लिख ही नहीं सकता जैसी कविता इन्होंने सुनाई थी। यह वार्तालाप श्रीनारायणजी के निवास पर, जहाँ रामनरेश भी ठहरे थे, बेढबजी के साथ मेरे जाने पर हुआ। उस समय श्रीनारायणजी ने रामनरेशजी को जो डाँट पिलायी वह मुझे ज्यों-की-त्यों याद है। उन्होंने मेरी सराहना भी की और तभी से मैं उनका अत्यंत स्नेहभाजन बन गया।

दूसरी घटना का वर्णन मैं हिंदी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित पुस्तक **आधुनिक कवि गुलाब खंडेलवाल** की भूमिका में कर चुका हूँ। वह प्रसंग मेरे लिए इतना प्रेरणाप्रद था कि उसे यहाँ दुहराने का लोभ छोड़ नहीं पा रहा हूँ। 1945 में **कच देवयानी** की रचना हुई। उसके प्रथम सर्ग का पाठ काशी में श्री मैथिलीशरण गुप्त की हीरक जयन्ती के अवसर पर **प्रसाद परिषद्** की गोष्ठी में हुआ। इस गोष्ठी में माननीय सम्पूर्णानन्दजी, सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, शिवरानी देवी, भगवतीचरण वर्मा, दिनकरजी, बेढब बनारसीजी, हितैषीजी, विश्वनाथप्रसादजी मिश्र, रायकृष्णदासजी, सीतारामजी चतुर्वेदी, डॉ. मोतीचन्द आदि साहित्यकार एवं साहित्य-मनीषी उपस्थित थे। **कच देवयानी** की सभी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की और मैथिलीशरणजी ने खड़े होकर मुझे गले से लगाते हुए उपस्थित मंडली से कहा—'अब काशी में प्रसादजी का अभाव नहीं रहा। मैं तो कलम घिसते-घिसते

कवि बन गया पर जिसे सचमुच कवि कहा जा सकता है वह आज आपके सामने उपस्थित है।' दिनकरजी हर्ष-गद्‌गद होकर बोल उठे—'तुमने आज सारे बिहार का मुख उज्ज्वल कर दिया।' महादेवी वर्मा ने कहा—'मैं तो कविता नहीं सुन रही थी, लगता था, चित्रों की शृंखला देख रही थी।' 20-21 वर्ष की अवस्था में अपनी कृति पर इतने बड़े साहित्य-महारथियों द्वारा इस तरह का प्रोत्साहन पाकर कोई भी कवि अपने को धन्य समझ सकता था।

उर्पयुक्त विषयांतर के बाद अब मैं पुनः पूना सम्मेलन की ओर चलता हूँ। पूना के हिंदी साहित्य सम्मेलन में ही मैंने पहली बार पुरुषोत्तमदासजी टंडन के दर्शन किये और उनसे बातचीत का अवसर पा सका। मैं स्नान करके निचोड़ी हुई गीली धोती कंधे पर रखकर लौट रहा था कि वे सामने मिल गये। मेरे नमस्कार करते ही उन्होंने मेरी धोती को लक्ष्य करके कहा, 'तुम खादी क्यों नहीं पहनते!' 'खादी जल्द ही गंदी हो जाती है और उसे धोने में भी कठिनाई होती है। इसके साथ ही वह मिल की धोती से मँहगी भी पड़ती है,' मैंने उत्तर दिया। इस पर टंडनजी ने कहा - 'मुझे देखो, दो धोतियाँ साल भर चलती हैं, अपने हाथ से धोता हूँ और बहुत उजली न दिखाई दें, परंतु स्वच्छ रहती हैं।' मैं कुछ कहता, इसके पहले ही और लोग आ गये और मैं चुपचाप वहाँ से खिसक गया।

इस अधिवेशन के अवसर पर अपनी असावधानी से एक अपमानजनक स्थिति का शिकार होते-होते मैं बच गया। एक प्रस्ताव पर वोट के लिए सदस्यों का नाम पुकारा जा रहा था। अचानक जी. डी. खंडेलवाल का, जो रेलवे के उच्च पदाधिकारी थे और सम्मेलन में प्रतिनिधि की हैसियत से भाग ले रहे थे, नाम पुकारा गया। मैंने जी. डी. का प्रारंभिक शब्द तो सुना नहीं, अचानक खंडेलवाल का शब्द सुनते ही अपना मत दे दिया। जी. डी. खंडेलवाल उस समय उपस्थित नहीं थे। मेरे मत जताकर बैठने के बाद पुत्तनलाल विद्यार्थी नामक रेलवे के एक दूसरे वरिष्ठ अधिकारी ने उठकर कहा कि अभी बोगस मतदान हुआ है। ये जी. डी. खंडेलवाल नहीं हैं। मेरी स्थिति विषम हो गयी थी परंतु बेढबजी ने तुरंत प्रत्युत्पन्नमतित्व से काम लिया और स्थिति को सँभाल लिया। उन्होंने कहा, यह अंग्रेजी पद्धति के प्रारंभिक अक्षर के नामकरण का दोष है। अभी जिन्होंने मत दिया है उनका नाम गुलाब दास खंडेलवाल है। जी. डी. खंडेलवाल से उन्होंने अपना नाम समझा तो इसमें उनकी क्या भूल थी! वे यह कैसे समझते कि जी. डी. खंडेलवाल किसी और का नाम है! यह तो अधिकारियों की भूल है कि

उन्होंने पूरा नाम न पुकार कर प्रारंभिक अक्षरों से नाम पुकारा। पुत्तनलालजी एक सम्मानित सदस्य पर झूठा लांछन लगा रहे है।' अब क्या था ! पुत्तनलालजी को लेने के देने पड़ गये। उन्हें झुकझुककर बार-बार मुझसे क्षमा-याचना करनी पड़ी। इस घटना के बाद बेढबजी ने मुझसे कहा 'सभा-समितियों की कार्यवाही में भाग लेते समय पूरी तरह सचेत रहना चाहिए। यह तो तुम्हारे गुलाब नाम का लाभ मुझे मिल गया जिसमें 'दास' का शब्द जोड़ कर मैंने तुम्हे जी. डी. खंडेलवाल प्रमाणित कर दिया परंतु यदि ऐसा न होता तो इतनी बड़ी सभा में बड़ी भद्द होती।'

वहाँ, खुले अधिवेशन में एक प्रस्ताव आया था कि स्थायी समिति में भाग लेनेवाले सदस्यों को मार्ग-व्यय दिया जाय। इलाहाबाद के प्रतिनिधियों ने इस प्रस्ताव का विरोध किया क्योंकि स्थायी समिति की बैठक तो इलाहाबाद में ही होती थी और मार्ग-व्यय दिये जाने के प्रस्ताव से उन्हें कोई लाभ नहीं मिलनेवाला था।

प्रस्ताव का समर्थन करते हुए बेढबजी ने कहा कि इलाहाबादवाले जो मार्ग-व्यय दिये जाने के विरोधी हैं उसका कारण मैं अच्छी तरह जानता हूँ। उन्हें मार्ग-व्यय के लिये रेलभाड़े की आवश्यकता ही नहीं पड़ती क्योंकि वे सदा बिना टिकट रेलयात्रा करते हैं। इस पर सारा पंडाल ठहाकों से भर गया। प्रस्ताव, बाद में सम्मेलन की आर्थिक असमर्थता देखते हुए वापस ले लिया गया।

काशी में उन दिनों प्रसिद्ध दैनिक **आज** की टक्कर में एक दूसरा दैनिक **संसार** के नाम से प्रकाशित होने लगा था जिसके साप्ताहिक रविवासरीय संस्करण के संपादक बेढबजी थे। उसमें प्रति सप्ताह मेरा कोई गीत या **सॉनेट** छपता था। मैं उस समय **सॉनेट** का प्रयोग हिंदी में पहली बार कर रहा था। **सॉनेट** की तो पैरोडी हो नहीं सकती थी परंतु मेरे प्रत्येक गीत की पैरोडी उस समय के उगते हुए हास्यरस के कवि और मेरे मित्र बेधड़कजी दूसरे अंक में कर देते थे। उनकी कितनी ही पैरोडियाँ तो मेरी मूल कविता से भी अधिक प्रसिद्ध हो गयीं। मैं जब अपनी कविता की पैरोडी किये जाने पर खीजकर बेढबजी से शिकायत करता तो वे कहते, 'इसका स्वागत करना चाहिए। इससे तुम्हारी ख्याति बढ़ती है। कितने ही बड़े-बड़े कवि इसके लिए लालायित रहते हैं और अपनी कविता की पैरोडी करने का मुझसे अनुरोध करते हैं।' बेधड़क की एक पैरोडी की कुछ पंक्तियाँ तो जो उन्होंने मेरे गीत **दूर गगन में टूटा तारा** की की थी, मुझे आज तक याद हैं क्योंकि कविसम्मेलनों में वह अक्सर उसको सुनाया करते थे।

बेधड़कजी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं --

दूर गगन में टूटा तारा
दिवस निशा में क्रिकेट हो रहा
फॉल किसीका विकेट हो रहा
देखो चाँद खिलाड़ी ने है वह बाउंड्री का हिट मारा
क्या यह कोई शरणार्थी है
फेल हुआ या विद्यार्थी है
अथवा सोशलिस्ट है कोई उपचुनाव में जो है हारा
बहुत पुराना स्वर्ग सदन का,
बल्ब हुआ यह फ्यूज गगन का,
जिसे फेंक कर दूर क्षितिज में अंबर ने निज कक्ष बुहारा

पूना हिंदी साहित्य सम्मेलन के बाद 1943 के हरिद्वार हिंदी साहित्य सम्मेलन में बेढबजी के साथ मैं सप्नीक गया था। वहाँ से फिर हम लोग एक महीने के लिए मसूरी चले गये थे। हरिद्वार हिंदी साहित्य सम्मेलन की विस्तृत चर्चा आगे अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन के अन्य अधिवेशनों के वर्णनों के समय करुँगा।

निरालाजी, मैथिलीशरणजी, शांतिप्रियजी

काशी विश्वविद्यालय में दूसरे वर्ष कवि के रूप में वहाँ के साहित्यिक समाज के बीच मेरी अच्छी ख्याति हो गयी थी। उस समय के लोकप्रिय समालोचक पं. शांतिप्रिय द्विवेदी मुझसे बहुत अधिक प्रभावित थे। वे सुमित्रानंदन पंत के परम भक्त थे और मेरी उस समय की कोमल-कांत पदावली में उन्हें पंत की झलक मिलती थी। विश्वविद्यालय के मेरे बिड़ला होस्टल के कक्ष में बेढबजी तो कभी-कभी ही दिखाई दे जाते क्योंकि अधिकांश शनिवार और रविवार की संध्या में मैं ही उनके यहाँ चला जाता था और **प्रसाद परिषद्** की पाक्षिक गोष्ठियों में भी उनसे भेंट हो जाती थी, परंतु शांतिप्रिय द्विवेदी बहुत बार होस्टल में मेरे कमरे का चक्कर लगाया करते थे। वे ऊँचा सुनते थे। अतः मुझे उनके साथ बहुत ऊँचे स्वर में बातें करनी होती थीं। उन दिनों वे **कमला** नामक मासिक-पत्रिका का संपादन भी करते थे और प्रतिवर्ष साहित्यिक समालोचना की भी उनकी एकाध पुस्तक प्रकाशित हो जाती थी। वे विशेष

पढ़े-लिखे तो नहीं थे परंतु काव्य की संवेदना उनमें प्रचुर परिमाण में थी और प्रभाववादी आलोचना में हिंदी में, विशेषतः विद्यार्थियों में, उन्होंने काफी लोकप्रियता पा ली थी। उनकी शैली को अंग्रेजी में Impressonist Criticism कहते हैं। पं. रामचंदशुक्ल तो ऊँचे हिमालय के शिखर के समान थे जिनके गहन विवेचन को समझने की साधारण विद्यार्थियों में क्षमता नहीं थी और पाठ्यपुस्तकों में जिनके सारगर्भित निबंध कुनैन की गोलियों की तरह विद्यार्थी अपने गले में उतारते थे परंतु शांतिप्रिय द्विवेदी की समालोचना तो कविता की तरह सरल, कोमल और मधुर होती थी चाहे उसमें तथ्य उस परिमाण में न रहते हों। वे उन दिनों एक पुस्तक लिख रहे थे जिसका नाम था **युग और साहित्य**। उसके 50-60 पृष्ठों का मुद्रित अंश उन्होंने मुझे दे भी दिया था। उसमें एक पूरा परिच्छेद मेरे विषय में था। यह 1940 के अगस्त-सितंबर की बात है। उसके बाद दशहरे की छुट्टियाँ बिताकर जब मैं विश्वविद्यालय में लौटा तो मुझे मेरे पड़ोसी और अनन्य मित्र श्री राधेश्याम गुप्त ने सूचना दी कि मित्र, युग और साहित्य में तुम पर लिखा हुआ परिच्छेद निकाल दिया गया है और वे चार-पाँच छपे हुए पृष्ठ नष्ट कर दिये गये हैं। मैं सुनकर अवाक् रह गया। थोड़ा आघात भी लगा। तुरत शहर में गया और **युग और साहित्य** की एक प्रति खरीदी। बात सच्ची थी। 4 पृष्ठों के उस काव्य-संबंधी परिच्छेद के स्थान पर 8-10 पंक्तियों का एक पैराग्राफ भर मेरे विषय में था। मैं शांतिप्रिय द्विवेदी के घर पर पहुँचा। मैंने उनसे कहा कि बिना मेरे कहे उन्होंने मेरी कविता की प्रशंसा में एक परिच्छेद लिखा ही क्यों था! उसे मुझे दिखाकर हटा देना तो मेरा अपमान करना है। वे अत्यंत कातर स्वर में बोले, 'मैं अपराधी हूँ, परंतु मैं क्या करता! शिवमंगल सिंह 'सुमन' और नरेंद्र शर्मा ने वह छपा हुआ प्रकरण देखकर बहुत विरोध प्रकट किया। वे धरना देकर बैठ गये और बोले कि मैंने उन लोगों की कविता की तो कहीं चर्चा भी नहीं की है और यदि की भी हो तो एकाध पंक्ति में, परंतु सेकंड इयर के एक विद्यार्थी के संबंध में **युग और साहित्य** जैसी पुस्तक में, एक पूरे परिच्छेद का रहना हमारे लिए घोर अपमानजनक बात होगी, विशेषतः जब हम गुलाबजी से 5-7 वर्ष सीनियर हैं और कविरूप में अत्यंत प्रसिद्धि पा चुके हैं।' यहां यह बताना उपयुक्त होगा कि सुमनजी उस समय पोस्ट ग्रैजुएट-कक्षा के विद्यार्थी थे और कवि नरेंद्र शर्मा शायद बी. ए. करके काशी की ट्रेनिंग कालेज में पढ़ाई पूरी कर चुके थे। नरेद्र शर्मा और

सुमनजी से तो काशी में हर कविसम्मेलन में मेरा साथ हो जाता था पर बच्चनजी से बाहर के बड़े-बड़े कविसम्मेलनों में ही भेंट हो पाती थी क्योंकि वे बनारस से जा चुके थे।

शांतिप्रिय द्विवेदी ने मुझे यह भी बताया कि जब वे छपे हुए अंश को पुस्तक में से निकालने को तैयार नहीं हुए तो उक्त दोनों कवियों ने उनके बहिष्कार की धमकी भी दी। अंत में शांतिप्रिय जी कातर स्वर में बोले, 'मैं क्या करता! मैं तो अकेला प्राणी हूँ। संसार में मेरा परिवार तो साहित्यिक मित्रों का ही है। दोनों आदरणीय कवियों की इस धमकी से मैं विचलित हो गया और मुझे प्रकाशक को घाटा सहकर भी पुनः दुबारा उन पृष्ठों को दूसरे रूप में छपाने को विवश करना पड़ा तथा आपके संबंध में केवल एक पैराग्राफ देकर ही संतोष करना पड़ा।' मैंने शांतिप्रियजी से विदा लेते हुए कहा, 'आपने जो किया, ठीक ही किया, पर मैं आपको यह बता देना चाहता हूँ कि एक दिन जब मेरे कविरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जायगी तो आपको इस गौरव से वंचित रह जाने का बहुत खेद रहेगा कि आपने उस अवस्था में ही मेरी प्रतिभा को पहचान लिया था।'

श्री नरेंद्र शर्मा और सुमनजी मेरे बहुत आदरणीय कवि थे। प्रारंभ में विश्वविद्यालय में सुमनजी ने मेरा नाम बहुत उछाला था। परंतु काशी का साहित्यिक वर्ग उनसे थोड़ा चिढ़ता था और मेरी कविता से तुलना करके उनकी थोड़ी चुटकी भी लेता था। हो सकता है इससे वे कुछ इर्ष्या का अनुभव करने लगे हों। बेढबजी का भी मुझ पर विशेष अनुग्रह देखकर वे शायद उसमें अपनी अवहेलना मानने लगे हों। जो भी हो, इस घटना से मेरे उनके संबंध में कोई अंतर नहीं आया और न मैंने शांतिप्रियजी से इस विषय में पुनः चर्चा ही की। मुझे बेढबजी, निरालाजी, मैथिलीशरणजी आदि से जो निरंतर प्रशंसा और प्रोत्साहन मिल रहा था उसके कारण मैंने इस घटना को शांतिप्रियजी के लिए ही खेदजनक समझा कि वे अपनी भावी कीर्ति से वंचिंत हो गये थे। यों, **युग और साहित्य** की उनकी लिखी कुछ पक्तियाँ तो मेरी प्रशंसा में रह ही गयी थीं।

काशी में समय-समय पर मैथिलीशरणजी गुप्त काशी आकर राय कृष्णदासजी के यहाँ हप्तों ठहरा करते थे। उन दिनों जगह-जगह साहित्य-गोष्ठियाँ खूब जमती थीं जिनमें बेढबजी के साथ मैं भी भाग लिया करता था। जब मेरी पहली कविता-पुस्तक **कविता** नाम से बेढबजी ने प्रकाशित की तो मैथिलीशरणजी के काशी आने पर वे मुझे लेकर उनसे मिलने गये। मैंने अपनी पुस्तक गुप्तजी को दी जिसको उन्होंने उलट-पलट कर मेरे सामने ही इधर-उधर से थोड़ा बहुत

पढ़ा भी। एक स्थान पर मैंने लिखा था --

मेरे विकल तन-मन-प्राण
दूबवाली राह छूटी
कोंपलों की छाँह छूटी
दूर गुलशन से उड़ाकर ले गया तूफान

गुप्तजी ने कहा कि गुलशन जैसा उर्दू-शब्द नहीं रखकर हिंदी का कोई शब्द रखते तो अच्छा होता। अपनी बालोचित प्रगल्भता से मैंने उत्तर दिया, 'गुलशन' जैसा कोई मधुर और कवित्वपूर्ण शब्द हिंदी में बताइये तो। क्या 'उपवन' में वह खूबी आ सकती है जो गुलशन में है!' गुप्तजी तो विनम्रता की मूर्ति थे। तुरत बोले, 'नहीं, नहीं, मैं कोई संशोधन नहीं सुझा रहा हूँ, मेरा इतना ही कहना है कि जहाँ तक उर्दू शब्दों को टाला जाय, अच्छा है।' इसके बाद गुप्तजी ने मुझसे कहा, 'देखिए, कभी यदि लिखने को कुछ न सूझे तो किसी दूसरी भाषा के बड़े कवि का अनुवाद प्रारंभ कर दीजियेगा। इससे आपकी काव्य-संवेदना बनी रहेगी।' सौभाग्य से अभी तक मुझे गुप्तजी के उस उपचार की आवश्यकता नहीं पड़ी है।

प्रसाद-जयंती की अध्यक्षता करने निरालाजी काशी आये थे। प्रसाद-जयंती के समारोह में उन्होंने **प्रसादजी के प्रति** नामक एक लंबी कविता पढ़ी जो उनके अणिमा नामक काव्य-संग्रह में प्रकाशित है। उस कविता में उन्होंने प्रसादजी के बाद के कवियों की श्रेणी में मेरा नाम 'गुलाब कवि' कहकर गिनाया। अपना भाषण और कविता-पाठ पूरा करके जब वे मंच से उतरे तो आगे की पंक्ति में मुझे बैठा देखकर बोले —

'देखो बेटा ! नाम तो सब का गिनाया है परंतु कवि तुम्हींको माना है।'

दूसरी बार निरालाजी जब एक कविसम्मेलन में सभापतित्व कर रहे थे तो मेरी **भावों का राजकुमार** नामक कविता सुनकर खड़े हो गये और अपने गले की गुलाब के फूलों की माला मेरे गले में डालकर, मुझे माइक से हटाते हुए स्वयं माइक पर खड़े होकर प्रायः 15 मिनट तक मेरी प्रशंसा करते रहे। अपने स्थान पर बैठने के पहले उन्होंने मुझसे कहा, 'यह कविता तुम्हारे जीवन की श्रेष्ठतम कविताओं में मानी जायगी।' वह कविता मेरी कविता-पुस्तक **कविता** के दूसरे संस्करण में सम्मिलित है। निरालाजी को उसमें अपनी उदात्त शैली की

झलक मिली होगी इस लिए वे उस पर विशेष रूप से मुग्ध हो गये। उस लंबी कविता में अपने कवि के विविध रूपों का वर्णन कर मैंने जो लिखा था वह द्रष्टव्य है—

मैं भावों का राजकुमार

मेरे स्वागत में हँसती कलियाँ रज पर अपने कच्चे दृग मीचे
तरु ने ज्यों रक्खा हो तुरत उतार
चलता हूँ तो सुंदरता अँगड़ाई लेती है मेरे चरणों के नीचे
जैसे सागर में लहरें सुकुमार
दो डग बढ़ती प्रकृति-कुमारी सकुचीली मुख पर
किसलय-अवगुंठन खीचे
नयी वधू-सी ले यौवन-उपहार
तारों पर झंकार सदृश फिरते अधरों पर अधर सुरा से सीचे
उठकर थर्राते-से बारंबार
बाहु-वल्लरियाँ बनतीं हार

जिधर देखता मैं वसंत बिछ जाता भू पर, उठती ऊपर दृष्टि
बाज सदृश जब, यह सारा संसार
उठ जाता है स्वर्गलोक तक, पाने को मेरी करुणा की वृष्टि
लघु रज के कण करते नित शृंगार
भावों की भाषा जैसे अनुगामी, निखिल समष्टि रूप में व्यष्टि
अंबर मैं भूतल मैं पारावार
शून्य, काल, नक्षत्र, ग्रहों पर जाता हूँ टेकता अगम की यष्टि
कोटि-कोटि ब्रह्मांड खोलते द्वार
दिशायें करतीं जय-जयकार

उगी जहाँ यौवन की पहली स्मिति अधरों पर से परिचय में क्षीण
मैं अबोधता का बनता शृंगार
मैं मीठी भावनामयी लय-सी बनकर सुकुमार हृदय में लीन
कविता के मिस चोरी करता प्यार
जलती भौहों की चिनगारी से उड़ते चल परिणय में यतिहीन
नयनों का मैं हूँ गोपन व्यापार
मैं वसंत, यौवन, सुषमा का अग्रदूत घनखंडों पर आसीन

आता हूँ जग-सरिता के इस पार
प्रेम का करने यहाँ प्रचार
देश, काल, जड़, बुद्धि-विपर्यय की न तनिक लग पाती जिन पर चोट
उन दृढ़ चट्टानों की रच दीवार
शाश्वत मैं भावों के उन्नत गढ़ में बैठा, भाषा की ले ओट
यथायोग्य करता सबका सत्कार
लघु कवि-पुंगव छिपते जो दिखला प्रतिभा के क्षण-भंगुर विस्फोट
मैं अनंत उनका विस्मय-भंडार
दिव्य कल्पना-विभव रत्न-से रहे चरण-प्रांतों में मेरे लोट
गीतों की सतरंगी ज्योति पसार
देखता कौतुक से संसार
विश्व-मंच पर प्रकट हुई जो शेक्सपियर की अद्भुत नाट्य-कला-सी
पहने कोमल कविता का गलहार
कालिदास कवि की कुटिया में खेली मृगछौनों से शकुंतला-सी
छवि की मोहक प्रतिमा जो सुकुमार
मानस की नुषी, सूर के अंध नयन की ज्योति प्रखर चपला-सी,
कोटि-कोटि कंठों की प्राणाधार
चंचल मधु-अंचला, खड़ी हिमनग पर, हिमनग-सी उज्ज्वल, अचला-सी
आज वही शारद-हासिनी उदार
दे रही मुझे विजय-उपहार
मैं भावों का राजकुमार

निरालाजी का एक अन्य संस्मरण और बहुत मनोरंजक है। 1941 में वे काशी आये तो सदा की तरह बेढबजी के निवास पर, जहाँ वे ठहरते थे, मैं विश्वविद्यालय से चला आया। मुझे देखते ही वे बोले - अपनी कोई नयी कविता सुनाओ।' मैंने **रवींद्रनाथ के प्रति** शीर्षक अपनी ताजा कविता जो उन दिनों अस्वस्थ रवींद्रनाथ को लक्ष्य करके मैंने लिखी थी, उन्हें सुनायी। कविता सुनकर वे गंभीर हो गये बोले जरा खड़े हो जाइए। मैं खड़ा हो गया। वे कहने लगे, 'रवींद्रनाथ की पुस्तकें, एक पर एक रख दी जायँ तो वे आपके सिर से ऊँची हो जायँगी, आपने ऐसा कैसे लिख दिया।' मैं बिना बोले चुपचाप खड़ा रहा। एक मिनट के मौन के बाद वे बोले, 'लेकिन तुम्हारी कविता बहुत सुंदर है।'

आप से पुनः 'तुम' का संबोधन पाकर मैंने समझ लिया कि उनका रोष समाप्त हो गया है और अपने स्थान पर बैठ गया। वह कविता भी मेरे प्रथम कविता-संग्रह के दूसरे संस्करण में दे दी गयी है। रवींद्रनाथ को, जो मृत्युशय्या पर पड़े थे, माँझी के रूप में संबोधित करते हुए मैंने लिखा था—

किसे पुकार रहा तू, माँझी! धूमिल संध्या-वेला में
सागर का है तीर, खड़ा हूँ संगीहीन अकेला, मैं
डूब चुका रवि अरुण, थकी लहरें, उदास है सांध्य-पवन
तारक-मणियों से ज्योतित नीलम-परियों के राजभवन
मधुवन पीछे लहराता है शांत मरुस्थल के उर में
आगे तरल जलधि-प्रांगण रोता विषाद-पूरित सुर में

काला महादेश जादू का कहीं बसा होगा उस ओर
बैठा-बैठा जहाँ खींचता है कोई किरणों की डोर
माँझी! परिचित स्वामी तेरा युग-युग से वह जादूगर
जिसका कठिन नियंत्रण झंझा में समुद्र की लहरों पर

पिता गगन, जननी समुद्र, उंचासों पवन बंधु तेरे
अगणित बहन कुमारी लहरें, रहतीं जो निशि-दिन घेरे
सूर्य-चंद्रमा कंदुक, दशों दिशाएँ तेरी हमजोली
हाथ बाँध सेवा में रहती खड़ी तारकों की टोली

यौवन-मद में चूर मारता एकाकी डाँड़ें भरपूर
कितनी बार गया होगा तू लाखों कोस तीर से दूर!
जहाँ मार्ग के कंकड़ मोती, अलकापुर के पहुँच समीप
देखी होगी नीलम-घाटी, मणि-प्रवाल-रत्नों के द्वीप
वरुण-देश की राजकुमारी तुझ पर मोहित हुई कभी
वे अल्हड़ साहस-गाथायें आज स्वप्न की बात सभी

शिथिल बाँह, पग काँप रहे, कंठ-स्वर रुँधने को आया
झुकी कमर, जड़ काष्ठ उँगलियाँ, जीर्ण त्वचा, जर्जर काया
समझा, जीवन की संध्या में आज पुकार रहा किसको
कौन तरुण वह, सौंप चला जायेगा यह नौका जिसको

आ जा, माँझी! छाया-सा चुपचाप उतर निर्जन तट पर
इन लहरों से मैं खेलूँगा अब तेरी नौका लेकर

रवींद्रनाथ के प्रति इस कविता को लिखने के कुछ दिनों बाद ही रवींद्रनाथ की मृत्यु हो गयी। मैंने श्री राधेश्याम गुप्त के साथ, बीमारी के समय उनके दर्शनों के लिए कलकत्ता जाने का मन भी बनाया था परंतु वह संभव नहीं हो सका। रवींद्रनाथ की मृत्यु पर मैंने एक मार्मिक लंबी कविता लिखी थी जो मेरी अप्रकाशित रचनाओं के रजिस्टर की शोभा बढ़ा रही है।

इसी प्रकार **प्रसाद परिषद्** की एक बैठक में जब मैंने **दूर गगन में टूटा तारा** नामक गीत, जिसकी पैरोडी की कुछ पंक्तियाँ मैं उद्धृत कर चुका हूँ, पढ़ा तो निरालाजी मुग्ध होकर बीच में ही मुझे रोककर 10-15 मिनट तक मेरे भाव और भाषा की प्रशंसा करने लगे। उनका एक वाक्य अभी तक मुझे याद है—**जो हिंदी की अवमानना करते हैं वे आकर देखें कि कितनी तेजी से इसने विकास कर लिया है। एक 15-16 वर्ष की अवस्था के सेकंड इयर के विद्यार्थी की यह भाषा और भाव हिंदी की तीव्र प्रगति के द्योतक हैं।** मेरे प्रथम काव्य-संग्रह **कविता** की भूमिका लिखते समय भी शायद यह भावना उनके मन में थी जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी भूमिका में किया है। निरालाजी के संबंध में अपने अन्य संस्मरण मैंने उन पर लिखे अपने निबंध में दे दिये हैं।

निरालाजी का एक मनोरंजक संस्मरण जो उक्त लेख में नहीं आया है उसे यहाँ लिख रहा हूँ। मुजफ्फरपुर में 1941 के **सुहृद् संघ** के समारोह में मैं बनारस से बेढबजी के साथ गया था। वहाँ दिनकरजी, मैं, जानकीवल्लभ शास्त्री, बेढबजी तथा निराला जी एक साथ बैठे चायपान कर रहे थे। उन दिनों दिनकरजी को लोग राष्ट्रकवि दिनकर के नाम से पुकारने लगे थे। किसीने चर्चा में दिनकरजी को राष्ट्रकविजी के नाम से संबोधित कर दिया। निरालाजी ने दिनकरजी की ओर पलटते हुए कहा, 'राष्ट्रकवि होना सरल बात नहीं है। आप यह मत समझें कि आप राष्ट्रकवि कहलाने से बहुत बड़े कवि हो गये हैं। इसके लिए बहुत तपस्या करनी होगी। कभी-कभी कविता की एक पंक्ति के लिए छः-छः महीने प्रतीक्षा करनी होती है।' उसके बाद न जाने क्या समझकर बेढबजी को संबोधित करते हुए वे मेरी विशेष प्रशंसा करने लगे। उनके पास बैठे हुए जानकीवल्लभजी ने कहा 'निरालाजी! ये गया के रहनेवाले हैं और मैंने

ही इन्हें कविता की शिक्षा दी है।' उनकी पहली बात तो सही थी परंतु दूसरी बात मेरे विषय में उन्होने बनाकर कही थी क्योंकि उसके पहले मैंने जानकीबल्लभजी को कभी देखा भी नहीं था। मैंने उस समय तो कुछ नहीं कहा पर बाद में बेढबजी के पूछने पर उन्हें बता दिया कि जानकीवल्लभजी को तो मैंने पहले-पहल मुजफ्फरपुर में ही देखा है। मैं यह भी नहीं जानता हूँ कि वे गया के हैं और गया में कहाँ रहते है। पीछे पता चला कि वे गया जिलांतर्गत एक गाँव के निवासी थे। बाद में तो जानकीवल्लभजी से मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया और वे हप्तों गया में कई बार सपरिवार मेरे यहाँ ठहरे भी परंतु उस समय, पता नहीं क्या सोचकर निरालाजी के संमुख उन्होंने यह असत्य कथन कर दिया।

हरिद्वार का अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन

पूना हिंदी साहित्य सम्मेलन में भाग लेने के बाद 1943 में ही मैं हरिद्वार के हिंदी साहित्य सम्मेलन में भाग ले सका। उसमें मेरे साथ मेरी पत्नी कृष्णा भी गयी थी। बेढबजी के साथ हम लोगों का हरिद्वार-सम्मेलन के बाद मसूरी में एक मास ठहरने का कार्यक्रम था। हरिद्वार हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष माखनलाल चतुर्वेदी थे जिन्हें चाँदी के रुपयों से तौला गया था। उस समय तक चाँदी के रुपये ही चलते थे। मुझे जहाँ तक याद है कुल चार हजार रुपये तौल में आये थे जिन्हें सम्मेलन को दे दिया गया था। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष महंत शांतानंदनाथ बड़े हिंदी-प्रेमी थे। वे डील-डौल में बहुत भारी-भरकम थे। सम्मेलन के आयोजन का अधिकांश व्यय उन्होंने ही वहन किया था। माखनलालजी बहुत दुबले-पतले थे। तौल के बाद उन्होंने मधुर व्यंग्य के साथ कहा कि मुझे तौलने की बनिस्पत यदि महंतजी अपने आप को ही तौल देते तो सम्मेलन को बहुत अधिक लाभ होता। उस अधिवेशन में साहित्यिकों का बहुत बड़ा जमघट लगा था। कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष तो सनेहीजी थे परंतु संचालन सोहनलाल द्विवेदी कर रहे थे। सोहनलालजी से काशी के साहित्यिक बहुत चिढ़ते थे क्योंकि वे बहुत अधिक बनते थे और बनना तथा किसी प्रकार की ओढ़ी हुई महत्ता का प्रदर्शन बनारसवालों को कभी नहीं भाया है। बनारस का साहित्यिक समाज ऐसी कसौटी रहा है जिस पर खरा सोना ही ठहरता है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि जितने सामयिक आंदोलन हिंदी में अपनी जयध्वजा फहराने का प्रयत्न करते रहे हैं, वे बनारस मे आसानी से अपने पाँव नहीं जमा सके हैं। छायावाद को भी

बनारसवालों ने बहुत कठिन परीक्षा के बाद ही ग्रहण किया था। बनारस की यह कीर्ति पहले से चली आ रही है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य आदि जितने भी आचार्य हुए है उन्हें अपनी बात पहले काशी के पंडितों से स्वीकृत करानी पड़ी थी तभी उनकी विचारधारा शेष भारत में सम्मान पा सकी थी। गौतम बुद्ध ने भी ज्ञान भले ही गया में पाया था, बनारस के पास सारनाथ में ही उनका पहला प्रवचन हुआ था तथा वहीं से उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन प्रारंभ किया था। हाँ, तो मैं सोहनलाल द्विवेदी के संबंध में कह रहा था। उनका संचालन करने का ढंग लोगों को कतई नहीं भा रहा था। साफ-सुथरी शेरवानी और अचकन पहने तथा कामदार टोपी धारण किये कवियों की मंडली में वे जैसे अपने आभिजात्य की घोषणा कर रहे थे। मैं अपनी कविता **भावों का राजकुमार** पढ़ चुका था। बेढबजी के, हास्यरस की रचनायें पढ़कर अपने स्थान पर आ बैठने के बाद, सोहनलालजी ने किसी स्थानीय तुक्कड़ का नाम पुकारा जिसने निरालाजी की **मैं और तुम** कविता के अनुकरण पर एक अनर्गल और भद्दी रचना पढ़नी प्रारंभ की जिसकी पंक्तियों में एक-आध पंक्ति जो मुझे याद है, इस प्रकार थी --

तू अरररररर हिप्प

मैं हुरररररर हुस्स

बेढबजी ने खड़े होकर बीच में टोकते हुए कहा कि सम्मेलन के मंच से इस प्रकार की अंटसंट रचनाएं नहीं पढ़ी जानी चाहिए। यह सम्मेलन की मर्यादा के विपरीत है। यदि इस प्रकार की रचनाएं पढ़ी जायँगी तो कोई अच्छा कवि सम्मेलन के मंच से काव्य-पाठ नहीं करेगा। बेढबजी की खरी बात सुनकर मंच में खलबली मच गयी। वहाँ के कुछ स्थानीय कवि एक साथ उठ खड़े हुए और हल्ला मचाने लगे कि बेढबजी ने हरिद्वार के कवियों का अपमान किया है, वे अपने शब्द वापस लें। उनके इस आक्रोश-प्रदर्शन में सम्मेलन के उन बाहरी सदस्यों का भी योगदान था जो बेढबजी से मन ही मन द्वेष रखते थे। फिर क्या था! जनता भी दो भागों में विभक्त हो गयी और आपस में लाठियाँ निकल आयीं। बेढबजी उठकर पंडाल के बाहर चले आये और उनके साथ मैं तथा काशी के अन्य कवि भी बाहर आ गये। पीछे मालूम हुआ कि लोगों ने सनेहीजी को तो घेर कर किसी तरह बाहर निकाला परंतु सोहनलाल द्विवेदी के साथ किसी प्रकार की रियायत नहीं बरती गयी। किसीने उनकी कामदार टोपी उछाल दी और उन्हें मंच से नीचे धकेल दिया।

कुछ लोगों के सर भी फूटे और हलकी चोटें भी लगीं। इस वातावरण में आगे कवि-सम्मेलन क्या होता! हजारों लोग आपस में वादविवाद करते हुए घर लौट गये। किसी प्रकार की टिकट तो थी नहीं, लोग संयोजकों पर आक्रोश करने के सिवा और कर ही क्या सकते थे! इस प्रकरण-संबंधी सम्मेलन की जो रिपोर्ट काशी के साप्ताहिकों में निकली उसमें बेधड़कजी की लंबी कविता भी थी जिसकी कुछ पंक्तियाँ मुझे आज तक याद हैं --

पंडित सोहनलाल द्विवेदी
किसने तुमको अचकन दे दी
किसने तुमको टोपी दे दी
पंडित सोहनलाल द्विवेदी

साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में सम्मेलन की आगामी वर्ष की स्थायी समिति का चुनाव होता है। चुनाव में बेढबजी ने जब मेरा नाम प्रस्तावित किया तो मेरे विरोध में किसी ने विनोदवश मेरी पत्नी का नाम प्रस्तावित कर दिया। वह वहाँ पर उपस्थित नहीं थी अतः नाम वापस नहीं ले सकती थी, इसलिए मतदान कराना पड़ा। इसका सब से मनोरंजक पहलू था कि अत्यधिक मतों से मेरी श्रीमतीजी तो चुन ली गयीं और मैं पराजित हो गया।

इस सम्मेलन में एक और विचित्र घटना घटी थी। सहारनपुर की श्रीमती चंद्रावती लखनपाल, जो सहारनपुर की एक धनाढ्य महिला थीं, की कहानी-पुस्तक पर सम्मेलन का कहानी-संबंधी पुरस्कार घोषित हुआ था। संध्या समय खुले अधिवेशन में पुरस्कार दिया जाना था। सुबह हम लोगों के आवास पर आकर ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने बेढबजी से कहा, 'बेढबजी, मैं उस महिला से मिलकर आ रहा हूँ। उसमें इस प्रकार की श्रेष्ठ पुस्तक के प्रणयन की क्षमता नहीं है। यह पुस्तक निश्चय ही कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' अथवा किसी अन्य विद्वान से लिखाई गयी है। मैं इस पाखंड का भंडाफोड़ करूँगा और यह पुरस्कार उसे नहीं लेने दूँगा। बेढबजी ने बहुत समझाया कि एक महिला के सम्मान का प्रश्न है, जाने दीजिए। इससे बहुत हंगामा मचेगा और सम्मेलन की भी मर्यादा घटेगी, पर श्रीनाथ सिंहजी कब माननेवाले थे। देशदूत के संपादक श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल', जो उनके साथ आये थे, आग में घी देने का काम कर रहे थे। अंत में बेढबजी ने कहा, 'जो आपकी इच्छा हो करें, मैं इस संबंध में तटस्थ रहूँगा।' श्रीनाथजी जाते समय कह गये कि पुरस्कार लेने जब वह महिला आयेगी, उसी

समय मैं उठकर विरोध करूँगा। उस महिला में तो यह भी क्षमता नहीं है कि दो शब्द बोल सके। केवल पैसा होना ही सब कुछ नहीं है। देखें, वह पुरस्कार कैसे लेती है।

अधिवेशन में जब माखनलाल चतुर्वेदी ने उक्त पुरस्कार लेने के लिए श्रीमती चंद्रावती लखनपाल का नाम पुकारा तो हम सभी साँस रोके बैठे थे कि अब भारी वितंडा होनेवाला है। उधर ठाकुर श्रीनाथ सिंह भी अपना सोटा सँभाल रहे थे और निर्मलजी अपनी कुर्सी पर कुलबुला रहे थे। चंद्रावतीजी, जो पुरस्कार लेने के लिए पहले से मंच पर बैठी थीं, उठीं और अध्यक्ष की कुर्सी के निकट खड़े माइक की और बढ़ीं। वह पुरस्कार की स्वीकृति में अपनी ओर से दो शब्द माइक पर कहने को तथा पुरस्कारपट्ट लेने को तदर्थ खड़े माखनलालजी की ओर बढ़ रही थीं और इधर श्रीनाथ सिंह उनके माइक के निकट पहुँच जाने की प्रतीक्षा ही कर रहे थे कि एक अप्रत्याशित घटना घटी। चंद्रावतीजी दो कदम चलकर लड़खड़ा कर गिर पड़ीं तथा बेहोश हो गयीं। मंच पर तथा दर्शकों में सकता-सा छा गया। माखनलालजी ने तुरत अपील की कि श्रोताओं में कोई डाक्टर हो तो आगे आये। कुछ व्यक्ति उछलकर मंच पर चढ़ भी गये तथा सब ने मिलकर चंद्रावतीजी को घेर लिया। उनके मुँह पर पानी के छींटे भी दिये गये परंतु उन्हें होश नहीं आया। फलतः किसी प्रकार मंच से उन्हें उठाकर ले जाया गया। अध्यक्ष ने 10-15 मिनट के लिये आगे की सारी कार्यवाही रोक दी और बाद में इस वक्तव्य के साथ कि 'चंद्रावतीजी को लगता है सम्मेलन का पुरस्कार पाने की इतनी प्रसन्नता हुई कि वे बेहोश हो गयीं, अब उनके आवास से सूचना आयी है कि वे सकुशल हैं। हम परमात्मा से उनके स्वास्थ्य की कामना करते हुए पुनः सम्मेलन का पुरस्कार पाने के लिए उन्हें बधाई देते हैं,' सम्मेलन की आगे की कारवाई चालू की। श्रीनाथसिंहजी की हालत तो देखने लायक थी। वे मंच के आगे हम लोगों के साथ प्रथम पंक्ति में ही अपना सोटा लिए बैठे थे। उनकी बगल में निर्मलजी भी तलवार भाँज रहे थे पर चंद्रावतीजी की इस आकस्मिक अस्वस्थता ने उन्हें सर्वथा अवाक् कर दिया था और वे यह अवसर ही नहीं पा सके थे कि बीच में उठकर कुछ बोल सकें। बिना अखाड़े में उतरे ही वे पराजित हो चुके थे। रात्रि में जब वे और निर्मलजी हम लोगों के आवास पर आये तो बेढबजी से बोले, 'यह सारा नाटक खूब सोच-समझ कर किया गया था और वह बेहोश हो जाना ढोंग था। हम लोग उल्लू बन गये।' बेढबजी ने कहा, 'मैं तो पहले ही आपको कहता था कि स्त्रियों से नहीं उलझना चाहिए।

इसमें हर हालत में पराजय का मुँह देखना होता है। आपने अपने दल के लोगों को तैयार करके रक्खा था कि आपके विरोध करते ही वे हल्ला मचायें। उस महिला को भी तो अपने बचाव में कोई योजना बनाने का अधिकार था। आप मेरी बात मानकर इस विषय में मौन रहते तो आपको यह शर्मिंदगी नहीं उठानी पड़ती। खैर, आगे से सावधान रहियेगा। आपने आज तक बड़े-बड़े साहित्यकारों और नेताओं पर कीचड़ उछाला है और उनसे टक्कर ली है, किसी स्त्री से आपका पाला नहीं पड़ा था।' यहाँ यह बता देना उचित होगा कि ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने बेढबजी के आदरणीय मित्र उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद पर यह आरोप लगाया था कि उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास सेवासदन का कथानक अंग्रेजी के उपन्यासकार थैकरे के उपन्यास **वैनिटी फेयर** से चुराया है। प्रेमचंदजी इस आरोप को सुनने के बाद बेढबजी से वैनिटी फेयर की प्रति पढ़ने के लिए माँग कर ले गये थे। उन्होंने वैनिटी फेयर का पढ़ना तो दूर रहा, नाम भी नहीं सुना था। इसी प्रकार श्रीनाथसिंह ने और भी कई बड़े लोगों पर झूठी तोहमतें लगाकर इस विधा में काफी कीर्ति अर्जित कर ली थी। उनका सिद्धांत शायद बर्नार्ड शा से लिया गया था कि जब महान व्यक्तियों पर दोषारोपण करेंगे तभी तो जनता आपकी बात सुनेगी। बर्नार्ड शा ने प्रारंभ में शेक्सपियर को खूब बुरा-भला कहा जिससे इंग्लैड में, जहाँ लोग शेक्सपियर को देवता के समान मानते हैं, खलबली मच गयी। जब लोगों का ध्यान वर्नार्ड शा की ओर जाने लगा और उनकी ख्याति हो गयी तब उन्होंने कहा कि यदि मैं शेक्सपियर की कटु आलोचना न करता तो मेरी बात को सुनना तो दूर रहा, कोई मेरी ओर ध्यान भी न देता। ठाकुर श्रीनाथसिंह भी हिंदी साहित्य में इस प्रकार बड़े-बड़े लोगों पर लाठियाँ भाँजने में, पटुता और प्रसिद्धि पा चुके थे परंतु हरिद्वार में उनका वार खाली गया और वे चारों खाने चित्त हो गये।

हरिद्वार साहित्य सम्मेलन में श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा, श्रीबालकृष्ण राव आदि से भी मेरा पहली बार परिचय हुआ। काशी की हमारी मंडली में श्री अशोकजी, श्री मोहनलाल गुप्त, श्री बेधड़कजी, डां. शंभुनाथ सिंह, श्री महेंद्र आदि से पहले ही मेरी घनिष्ठता हो चुकी थी।

हरिद्वार साहित्य सम्मेलन के बाद हम लोग एक महीने के लिए मसूरी भी गये थे। हरिद्वार से बहुत से साहित्यिक मसूरी भी चले आये थे जिनमें माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, दुलारेलाल भार्गव और उनकी पत्नी सावित्री दुलारेलाल, सावित्री की बहन सरस्वती जो संस्कृत में एम. ए. थी तथा बाद में

रामकृष्ण डालमिया की तीसरी या चौथी पत्नी बनी थी, डा शंभुनाथ सिंह, आदि की मुझे याद है। बाद में पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी भी वहाँ आ पहुँचे थे। हमारे आवास पर प्रत्येक दिन दोपहर में ही सब का जमघट लगता था क्योंकि संध्या को तो सभी लोग अपना आवास छोड़कर टहलने को निकल पड़ते थे। एक बार हमारे यहाँ, उस साहित्यिक मंडली में, दुलारेलाल अपने दोहों से बिहारी के दोहों की तुलना करके सभी लोगों को बोर कर रहे थे। अंत में बेढबजी ने एक दोहा लिखकर मुझे पकड़ा दिया जिसे मैंने पढ़कर आगे बढ़ा दिया। दुलारेलाल पर लिखे बेढबजी के दोहे का एक-एक करके सब ने खूब रसास्वादन किया। अंत में सावित्री ने भी उस कागज को पढ़ा और उसका चेहरा उतर गया। दुलारेलाल उसको पढ़ते, उसके पूर्व ही पंडित श्रीनरायणजी चतुर्वेदी ने जोर-जोर से पढ़कर उसे सब को सुना ही नहीं दिया, नमक मिर्च मिलाकर उसकी व्याख्या भी कर दी। उस समय मसूरी पहुँचनेवाले प्रायः सभी साहित्यिक वहाँ उपस्थित थे। दुलारेलाल को शायद ही कभी इस प्रकार साहित्यिकों के बीच नीचा देखना पड़ा हो। उनमें एक विशेष आदत यह भी थी कि निराला से लेकर छोटे-बड़े सभी साहित्यिक महारथियों को ऊपर उठाने की वे डींगें मारते रहते थे। उनका प्रकाशन का व्यापार था जिसका नामकरण उनकी पूर्व पत्नी के नाम पर **गंगा प्रकाशन** था। वे सुप्रसिद्ध पत्रिका **माधुरी** भी लखनऊ से निकाल चुके थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रारंभ में हिंदी की उन्होंने कुछ सेवा की थी। परंतु उसमें उनका व्यावसायिक दृष्टिकोण ही प्रधान था। मैंने निरालाजी के मुँह से भी उनके विषय में कभी कोई अच्छी बात नहीं सुनी थी। उन पर लिखे दोहे का पूर्ण रस लेने के बाद साहित्यिकों की मंडली विदा हो गयी और दुलारेलाल भी सावित्री के साथ मुँह लटकाये चले गये। परंतु यह बात यहीं समाप्त नहीं हो गयी। संध्या समय दुलारेलाल हमारे आवास पर अकेले आये और बेढबजी से रूआँसे स्वर में अपना आक्रोश व्यक्त करने लगे। बेढबजी ने कहा, 'भाई, मैं तो विनोदी स्वभाव का हूँ। मेरी रचना में भी हास्य-व्यंग्य ही रहता है। उससे किसीको बुरा नहीं मानना चाहिए।' दुलारेलाल ने कहा 'बेढबजी, आप मेरी चाहे जितनी भी खिल्ली उड़ा लेते, मेरी स्त्री के सम्मुख इस प्रकार का दोहा आपको नहीं सुनाना चाहिए था। मैंने आज तक उसके आगे अपने कवित्व का जो महल खड़ा किया था वह आपने एक बार में ही ध्वस्त कर दिया।' मैं दुलारेलाल का करुण विलाप सुनता रहा और मन ही मन थोड़ी प्रसन्नता का भी अनुभव करता रहा क्योंकि

मैं बिहारी के दोहों का परम भक्त था और दुलारेलाल द्वारा अपनी तुकबंदियों से उनकी तुलना किया जाना मुझे भी बहुत अरुचिकर लगता था। मैं समझता था कि इस अहं के गुब्बारे को फोड़ने का बेढबजी का प्रयास सर्वथा उचित था। जिस दोहे ने इतनी खलबली मचा दी थी और दुलारेलाल का मान और उनकी पत्नी का मोह-भंग कर दिया था वह इस प्रकार था --

कहाँ मूँछ के बाल हैं, कहाँ पूँछ के बाल !

कहाँ बिहारी लाल हैं, कहाँ दुलारेलाल !

मसूरी में दुलारेलाल की पत्नी सावित्री के साथ सरस्वती नामक उसकी बड़ी बहन, जिसका जिक्र ऊपर आ चुका है, अक्सर दिन में हम लोगों के आवास पर चली आती थी और साहित्यिक चर्चा में भाग लेती थी। वह एम. ए. बी. टी. की योग्यता होने पर भी अविवाहित थी। वह अपनी छोटी बहन सावित्री के जैसी सुंदर नहीं थी। सावित्री से उसकी तुलना करके मेरी यह धारणा बन गयी थी कि स्त्रियों के लिए विद्या और योग्यता की, विवाह के मैदान में, सौंदर्य के सामने कोई कीमत नहीं है। परंतु मेरी यह धारणा बाद में मिथ्या प्रमाणित हो गयी जब देश के प्रमुख उद्योगपति रामकृष्णजी डालमिया ने उससे अपना विवाह रचाया। मैंने सुना था कि इस विवाह में दुलारेलाल ने मध्यस्थता की थी। रामकृष्ण डालमिया संभवतः अपनी पत्नियों में एम. ए. बी. टी. की डिग्री को प्रधानता देते थे। उनकी एक पत्नी हिंदी की श्रेष्ठ गद्यकाव्य-लेखिका दिनेशनंदिनी चोरड्या भी बनी थी। रामकृष्ण डालमिया को पुत्र नहीं था और सुना है, किसी ज्योतिषी के सुझाव पर वे एक के बाद एक पत्नी जुटाते जा रहे थे। उस समय तक हिंदुओं में बहुविवाह अवैध नहीं कर दिया गया था।

उन्हीं दिनों मसूरी में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के उपकुलपति और हिंदी साहित्य सम्मेलन के पूर्व अध्यक्ष डा. अमरनाथ झा भी आये हुए थे। वहाँ उनकी अपनी कोठी थी और वे प्रतिवर्ष गर्मियों में वहाँ आया करते थे। हम लोगों की, संध्या समय मसूरी की लायब्रेरी के केंद्रीय स्थान पर भेंट हो जाती थी और साहित्यिक चर्चा होती थी। अमरनाथ झा मेरी कविताएँ बड़े चाव से सुनते थे और **अपने गान लो, मै चला** शीर्षक मेरा गीत तो उन्होने कंठस्थ कर लिया था। उन्होंने प्रस्ताव किया कि गर्मियों में बहुत से हिंदीप्रेमी भी मसूरी में आये हैं, क्यों न कविसम्मेलन का आयोजन किया जाय। इस प्रकार मसूरी का पहला कवि-सम्मेलन हुआ जिसमें हास्यरस के प्रमुख कवि बेढबजी थे और गंभीर

कविता के लिए झाजी ने मेरा नाम उछाल दिया था। पंजाब के सुप्रसिद्ध नेता सर गोकुल चंद नारंग के सुपुत्र उस कवि सम्मेलन के सभापति बने और अमर नाथ झा ने उद्घाटन किया। उक्त आयोजन में बेढबजी ने मसूरी पर एक कविता लिखी, **आह मसूरी, वाह मसूरी**। उस कविता की दो पंक्तियाँ जो बहुत सराही गयीं, मुझे आज तक याद हैं --

फल सुंदर, तरकारी सुंदर
पग-पग पर नर-नारी सुंदर
तुझे देख जी करता है, कर लूँ फिर एक विवाह मसूरी

उन दिनों वहाँ प्रेमचंदजी के सुपुत्र अमृतराय भी पहुँचे हुए थे और प्रायः एक उम्र के होने के कारण अमृतरायजी तथा मुझमें काफी घनिष्ठता हो गयी थी यद्यपि मैं उनके बहुत आग्रह के बाद भी साम्यवाद से प्रभावित **प्रगतिशील साहित्य संघ** नामक उनकी संस्था में सम्मिलित नहीं हो सका। मसूरी में राय कृष्णदासजी भी सपरिवार आये थे।

काशी में, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, **प्रसाद परिषद्** की पांक्षिक गोष्ठियाँ हुआ करती थीं जिनमें समय-समय पर बाबा राघवदास, नूरजहाँ प्रबंधकाव्य के कवि गुरुभक्त सिंह 'भक्त', मैथिलीशरणजी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, निरालाजी, श्रीनारायणजी चतुर्वेदी, हितैषीजी, दिनकरजी, महादेवीजी, भगवती चरण वर्मा, जैसे साहित्य-महारथियों का सान्निध्य मुझे सहज ही प्राप्त हो जाता था। काशी के मूर्धन्य साहित्यिक सीताराम चतुर्वेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आदि तो इसके सदस्य ही थे। अपने प्रारंभिक विद्यार्थि-काल में ही ऐसे श्रेष्ठ श्रोताओं के बीच कविता पढ़ने का गौरव पाना और प्रशंसित होते रहना स्वयं में एक बहुत बड़ा सौभाग्य था। प्रशंसा और स्वीकृति प्रतिभा के पौधे का खाद्य है जिसके अभाव में वह सूख जा सकता है। मैंने 1939 में अपने नगर गया से अपना संबंध जोड़ते हुए एक कविता लिखी थी -- **फूल खिला ऊसर में। गुलाब-ग्रंथावली** के प्रथम खंड की **ऊसर का फूल** नामक पुस्तक में इसका संकेत है। **प्रसाद परिषद्** की गोष्ठियों में बेढबजी अपने परिष्कृत व्यंग्य में किसी पर रियायत नहीं करते थे। एक बार जब मैं अपनी कविता पढ़ चुका था तो संपूर्णानंदजी ने कहा 'आज के कवियों की कविता से काल की गणना का कोई पता नहीं चलता। वेदों में स्थान-स्थान पर ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति की सूचना मिलती है।' मैं तो चुप रहा, परंतु मेरी कविता पढ़ने के बाद की गयी इस अप्रासंगिक टिप्पणी को बेढबजी

कैसे सहन करते! उन्होंने तुरत कहा, 'संपूर्णानंदजी, आप ठीक कहते हैं। मैंने तो आज से यह निर्णय कर लिया है कि कविता लिखने के पूर्व पंचांग सामने खोलकर रख लूँगा।' संपूर्णानंदजी झेंप गये और ठहाकों से वातावरण पुनः सहज हो गया।

बंगाल के अकाल के सहायतार्थ गया का कविसम्मेलन

अपनी पहली पुस्तक **कविता** की भूमिका लिखाने मैं बेढबजी के साथ 1941 में काशी से लखनऊ निरालाजी के यहाँ गया था। वे उस समय लखनऊ के भूसामंडी, हाथीखाना मुहल्ले के एक घर में रहते थे। हम लोग पता लगाते-लगाते जब उस मुहल्ले में पहुँचे और एक व्यक्ति से निरालाजी के संबंध में पूछने लगे तो पास खड़े एक बालक ने कहा, 'आप निरालाजी को ढूँढ रहे हैं न ! चलिए मैं उनका पता बता देता हूँ।' उसने हमें निरालाजी के घर तक पहुँचा दिया। वे मकान के एक तल्ले के एक कमरे में रहते थे जिसमें चारों ओर गर्दे से छाई हुई किताबें बिखरी पड़ी थीं। निरालांजी ने भूमिका बोलकर लिखा दी और नीचे अपना हस्ताक्षर कर दिया। उनसे भेंट का पूरा विवरण मैंने निरालाजी संबंधी अपने संस्मरण में दे दिया है। अतः उसे यहाँ नहीं दुहराऊँगा।

मैंने एम. ए. में जो दाखिला नहीं लिया उसके दो कारण थे। पहला तो यह था कि मैं दमे से पीड़ित रहने लगा था जिसमें यक्ष्मा का भी संदेह हो सकता था क्योंकि मेरी माता की मृत्यु यक्ष्मा से हुई थी। उन दिनों यक्ष्मा का रोग आज की एड्स की बीमारी ही जैसा असाध्य माना जाता था। दूसरा कारण था कि मैं बी. ए. प्रथम श्रेंणी में पास नहीं कर सका था और इसलिए विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के बीच मुँह दिखाने में लज्जा का अनुभव करता था। मैं अपने वर्ग में प्रथम श्रेणी के योग्य विद्यार्थियों में समझा जाता था और दर्शन शास्त्र में तो मेरी यहाँ तक गति थी कि परीक्षा के समय विभागाध्यक्ष ने मुझे अपने सहपाठियों को भी कोचिंग करने का आदेश दिया था। गर्मी के दिन थे। मेरी कक्षा के विद्यार्थी होस्टल के लान पर बैठकर जब मेरा व्याख्यान सुनते और मुझसे प्रश्नों के उत्तर पूछकर नोट करते तो होस्टल के अन्य छात्र कुतूहल से वह दृश्य देखते। ऐसी परिस्थिति में उस विद्यालय में, उनमें से बहुत से विद्यार्थियों के बीच, द्वितीय श्रेणी में पास होने से मुझे कितनी हँसी और लज्जा का सामना करना पड़ेगा, इस विचार ने भी मुझे एम. ए. में प्रवेश लेने से रोक दिया था। यद्यपि यह मेरी मूर्खता थी क्योंकि मैं केवल 7 अंकों से प्रथम श्रेणी

पाने से वंचित रह गया था और दर्शन शास्त्र के तीन विषय, मेटाफीजिक्स, इथिक्स और मनोविज्ञान में तो मुझे क्रमशः 81, 80 और 79 अंक मिले थे जो विश्वविद्यालय में रेकार्ड थे। यही नहीं, विश्वविद्यालय में ऊँचे अंक पाने वाले 10 विद्यार्थियों में भी मैं एक था और इसलिए स्कॉलरशिप का भी अधिकारी था। परंतु जो होनी थी वह तो होती ही। मुझे बी. ए. से आगे नहीं बढ़ना था। इसके साथ ही गया में रहने से मेरे जीवन की एक अत्यंत शोकजनक और ग्लानिपूर्ण घटना का बोझ भी झेलना था। वह सब कैसे टाला जा सकता था!

पढ़ाई छोड़ने के उसी वर्ष अर्थात् 1943 के दिसंबर में बंगाल के अकाल-पीड़ितों के सहायतार्थ अपने नगर गया में मैंने एक कवि-सम्मेलन और मुशायरे का आयोजन किया। इसमें सारा व्यय मेरे चचेरे ताऊ देवीलालजी वहन कर रहे थे और टिकट के कुल पैसे सहायतार्थ भेजे जाने थे। प्रायः 2100 रुपये मैंने टिकट की बिक्री के भिजवाये भी थे। इस कविसम्मेलन में निरालाजी, बेढबजी, श्यामनारायण पांडे, बेधड़कजी, शंभुनाथ सिंह आदि बनारस से आये थे। निरालाजी संबंधी कुछ संस्मरण तो मैंने अपने पूर्व-कथित संस्मरण में दे दिये हैं, कुछ विशेष बातें यहाँ लिख रहा हूँ। मेरी उम्र उस समय 19 वर्ष की थी तथा मेरी पत्नी की आयु 16 वर्ष की थी। आगंतुक सभी कवि हमारे घर पर ही ठहरे थे। निरालाजी मेरी पत्नी को देखकर बोले, 'बेटी, मेरी पत्नी मनोहरा की शक्ल बिल्कुल तुम से मिलती है। वह प्रायः इसी अवस्था में मुझको छोड़कर चली गयी थी। यदि तुम्हारी फोटो अपनी सास को भेज दूँ तो वह उसे अपनी पुत्री की फोटो ही समझेगी।' बोलते-बोलते निरालाजी की आँखों से आँसू बहने लगे। फिर मेरी पत्नी के अनुरोध पर उन्होंने अपनी **संध्या** कविता गाकर सुनायी। कवि-सम्मेलन के दिन एक दुर्घटना हो गयी। मेरा छोटा सगा भाई जो पेट के यक्ष्मा से पीड़ित होकर चिकित्सार्थ राजस्थान में जयपुर के अस्पताल में भर्ती था, उसकी मृत्यु का समाचार आया। मैं अधीर हो गया और कविसम्मेलन में नहीं गया। आयोजन तो होना ही था। उसे बेढबजी ने सँभाला। उस आयोजन में गया के सुप्रसिद्ध कवि वियोगीजी ने भाग लेने से इन्कार कर दिया था। सरोज नामक एक नवयुवक कवि ने नाम पुकारे जाने पर कहा कि चूंकि मेरे गुरुदेव वियोगीजी नहीं आये हैं इसलिए मैं कविता तो नहीं पढ़ता परंतु निरालाजी के अनुरोध पर काव्यपाठ करने जा रहा हूँ। निरालाजी भला यह कब सहन करनेवाले थे। उन्होंने माइक उसके हाथ से लेकर कहा, 'निराला किसीसे अनुरोध नहीं करता। आप अपने गुरुदेव को ले आयें। देखूँ, वे कितने पानी में हैं।' फिर क्या था।

कुछ लोगों ने हल्ला मचाना आरंभ किया, 'वियोगीजी गया के गौरव हैं। निरालाजी ने उनका अपमान किया है, वे अपने शब्दों के लिए क्षमा माँगें' आदि-आदि। अंत में बेढबजी के प्रयत्न से शांति स्थापित हुई और कविसम्मेलन की कार्यवाही सफलतापूर्वक आगे बढ़ी। निरालाजी और बेढबजी तथा बाहर से आये अन्य कविगण कई दिनों तक उसके बाद हमारे घर पर रहे और साहित्यिक परिचर्चा होती रही। दूसरे दिन मुशायरे का आयोजन हुआ जिसमें 'नूह नारवी' और 'विस्मिल इलाहाबादी' पधारे थे। 'नूह नारवी' भी मेरे घर पर ही ठहरे थे और पहली बार वैष्णव घर में उनके माँगने पर उनके लिए मुझे होटल से मांस मँगाकर देना पड़ा था।

कविसम्मेलन के दूसरे दिन हमारे बाग़ में स्नान आदि के लिए जब सभी कविगण जमा थे, निरालाजी को उकसाने के लिए बेधड़कजी ने श्यामनारायण पांडे की हल्दीघाटी कविता की प्रशंसा खूब नमक-मिर्च लगाकर सब को सुनानी प्रारंभ की। पिछली रात कवि सम्मेलन में पांडेजी की कविता खूब जमी थी जब कि निरालाजी की कुकुरमुत्ता कविता को कोई समझ ही नहीं पाया था। बेधड़कजी के यह कहने पर कि आखिर श्यामनारायण पांडे देवपुरस्कर-विजेता हैं, उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है, निरालाजी शांत न रह सके। उन्होंने बिगड़कर कहा- 'निराला बीसों देवपुरस्कार-विजेताओं को एक-पर-एक रखकर पैर की एड़ी से मसल देता है। वे इतने क्रुद्ध हो गये कि श्यामनारायणजी के हाथ जोड़कर उनसे क्षमा-याचना करने पर बोले कि दूर हो जा नहीं तो वह लात मारूँगा कि दूर जा गिरेगा।'

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

इस कविसम्मेलन के कुछ समय बाद गया में सुभद्राकुमारी चौहान का भी चार-पाँच दिन मेरे घर पर डेरा रहा था। वे झरिया के एक कविसम्मेलन से लौटते समय मेरे घर पर आयी थीं। उनके साथ, उनकी पुत्री 'ममता' भी थी जो उस समय 3-4 वर्ष की रही होगी। सुभद्राजी और उनके पतिदेव लक्ष्मण सिंहजी 1942 के आंदोलन में जेल चले गये थे जिसमें सुभद्राजी अवधि पूरी हो जाने के कारण छोड़ दी गयी थीं। सुभद्राजी की कविता सुनने नगर के साहित्यिक एवं उच्च अधिकारीगण बहुत उत्सुक थे। मैंने संध्या समय घर पर एक गोष्ठी का आयोजन किया। दिन में मेरे चाचा देवीलालजी, जो रायसाहबी पा चुके थे और अधिकारी-वर्ग में बहुत लोकप्रिय थे, बोले, 'सुभद्राजी तो, सुना है, बहुत उग्र कविता लिखती हैं। गोष्ठी में साहित्यिकों के अतिरिक्त ऐडिशनल कलक्टर और अनेक डिप्टी मजिस्ट्रेट रहेंगे, ऐसा न हो, वे कोई बहुत उत्तेजक कविता पढ़ दें।'

मैं तो देशभक्ति के आवेश में था। हिंदू विश्व विद्यालय से पढ़कर लौटा था जहाँ प्रत्येक साँस में राष्ट्रीयता की गंध मिलती थी। बेढबजी के रोक देने के कारण ही मैं 1942 के आंदोलन में भाग नहीं ले सका था। मैंने कहा, 'आप ऐडिशनल कलक्टर साहब और मजिस्ट्रेटों से कह दें, वे अपने घर पर बैठें। मुझे उनसे कुछ लेना-देना नहीं है। सुभद्राजी के जी में आयेगा, वही सुनायेंगी। यह कविगोष्ठी है, कोई मजिस्ट्रेट या कलक्टर साहब की कचहरी नहीं है।' ताऊजी मुँह फुलाकर बैठ गये। यह बात मैंने सुभद्राजी को भी बता दी। उन्होंने गोष्ठी में पहली कविता जो पढ़ी उसकी पंक्तियाँ आज भी मेरे कानों में गूँज रही हैं। कविता का शीर्षक था **राखी की चुनौती**। उसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार थीं --

आयी है राखी, सुहाई है पूनो,
बधाई उन्हें जिनको भाई मिले हैं।
मेरा बंधु माँ की पुकारों को सुनकर के बंदी बना जेलखाने गया है
कि खोयी हुई माँ की स्वाधीनता को, वो जालिम के घर में से लाने गया है।

ऐडिशनल कलेक्टर साहब सिर झुकाये सुनते रहे। मजिस्ट्रेट-मंडली मन में तो प्रसन्न थी परंतु बिना एक भी शब्द बोले गुमसुम बैठी रही और साहित्यिकों ने इन पंक्तियों को बारबार पढ़वाकर अधिकारियों की दयनीय दशा का पूरा आनंद उठाया।

एक दिन संध्या समय सुभद्राजी को मैं गया से 7-8 मील दूर बुद्धगया ले गया। उस समय बुद्धगया में इतनी इमारतें नहीं बनी थीं, न इतनी चहल-पहल ही थी। अत्यंत शांत वातावरण था। ममता मेरी गोद में थी। सुभद्राजी बोधिवृक्ष के नीचे पहुँचकर भावविभोर हो गयीं। बोलीं, 'बचपन से मेरी भगवान बुद्ध के प्रति परम श्रद्धा थी। मैं ऐसे ही शांत स्थान की कल्पना सँजोये थी। मैं भिक्षुणी बनकर यहीं रहूँगी।' मैंने इसे भावुकताभरा उद्‌गार समझा और कहा कि जेल में पड़े लक्ष्मणसिंहजी का क्या होगा और यह तीन वर्ष की ममता किसके पास रहेगी। सुभद्राजी तो गंभीर थीं। उन्होंने कहा, 'ममता को आप मेरे घर पर भेजने की व्यवस्था कर देंगे। मैं तो अब यहाँ से जाने की नहीं'। बड़ी देर गुमसुम बैठे रहने के बाद सुभद्राजी को पुनः व्यावहारिक जगत की याद आयी और प्रायः एक घंटा बोधिवृक्ष की छाया में शांति से बिताकर हम घर लौटे।

सुभद्राजी से एक प्रकार से मेरा आत्मीय संबंध था। मैं पहले बता चुका हूँ कि बनारस के विद्यार्थि-काल में निरालाजी जब बनारस आते तो बेढबजी के यहाँ

तो ठहरते ही शुभद्राजी की बहन कमलाजी के यहाँ भी उनकी साहित्यिक गोष्ठी जमती और उनके लिए विशेष रूप से भोजन पकता था। सुभद्राजी की दूसरी बहन बाँदा ब्याही थी। उसका पुत्र श्वेला मेरी कक्षा में मेरे साथ हिंदू विश्वविद्यालय में पढ़ता था तथा पुत्री बिट्टी (कृष्णा) भी मुझसे दो कक्षा आगे उसीके महिला कालेज में थी। सुभद्राजी जब बनारस आतीं और कमलाजी के यहां ठहरतीं तो वहां भी उनसे भेंट होती थी। कमलाजी का घर तो मेरे लिए अपने घर जैसा था ही।

सुभद्राजी और मेरे बीच इस भाई-बहन के संबंध की याद अमेरिका में उनकी वही पुत्री ममता, जो तीन-चार वर्षों की अल्पावस्था में मां के साथ गया आयी थी, पुनः दिला रही है। वह बुफैलो में मेरे नगर से मात्र दो-अढ़ाई सौ मील की दूरी पर रहती है और संगीत-विद्या में निष्णात है। उसने मेरे गीतों और ग़ज़लों को भी संगीत में बाँधा है और उन्हें गाकर अमेरिका के हिंदीप्रेमियों का मन मोह लिया है। उसके पति अरविंदजी उसकी कला-साधना में उतनी ही गहरी रुचि लेते है जैसी रुचि सुभद्राजी की काव्यसाधना में सुभद्राजी के पति लक्ष्मणसिंहजी लेते थे। पति-पत्नी में समरुचिता होने से ही पत्नी के गुणों का विकास हो पाता है अन्यथा भारतीय परिवेश में या भारतीय संस्कारों में पत्नी पत्नी के दुर्लभ गुण भी आँधी द्वारा उड़ाये हुए वर्षा के बादलों के समान विलुप्त हो जाते हैं।

उत्तर प्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन

हिंदी साहित्य सम्मेलन के बनारस और पूना के सम्मेलनों के कुछ अनुभव मैं लिख चुका हूँ। उत्तरप्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन भी अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन से किसी भी रूप में शान-बान में कम नहीं होते थे। उन पर टंडनजी का उतना ही मोह था जितना पिता को अपने कनिष्ठ पुत्र पर होता है। अखिल भारतीय सम्मेलन तो कभी छूट भी जाते थे, उत्तर प्रदेश के अधिवेशन मैं शायद ही कभी छोड़ता था। उनमें अधिक निकटता एवं हार्दिकता का अनुभव होता था और वे उत्तर प्रदेश की सीमा में ही होते थे अतः उनमें सम्मिलित होने के लिए विशेष तैयारी नहीं करनी पड़ती थी। उत्तरप्रदेश साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन तो दो बार मैंने स्वयं आगे बढ़कर प्रतापगढ़ में ही करवाये थे। आगरा, शिकोहाबाद, बस्ती आदि नगरों के अधिवेशनों की कितनी ही खट्टी-मीठी झाँकिया मेरे मन में कौंध जाती हैं जिनमें

से दो-एक यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। उत्तर प्रदेश के इन अधिवेशनों में टंडनजी के दाहिने हाथ थे पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी। उनका मुझ पर अपार स्नेह रहता था। टंडनजी के निधन के बाद उन्होंने ही उत्तरप्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन का संचालन ग्रहण कर लिया था और प्रतापगढ़ के अधिवक्ता डा. राजेश्वर सहाय त्रिपाठी को उसका प्रधानमंत्रित्व सौप दिया था। बनारस की हमारी मंडली में बेढबजी के साथ पं. सीताराम चतुर्वेदी, करुणापति त्रिपाठी, हास्यरस के सुप्रसिद्ध कवि बेधड़क बनारसी अवश्य रहते थे। अन्य साहित्यिकों में कभी कोई, कभी कोई सम्मिलित हो जाते थे। बस्ती साहित्य सम्मेलन की निरालाजी से संबंधित एक मनोरंजक घटना का वर्णन मैं उनके संस्मरण में कर चुका हूँ। यहाँ शिकोहाबाद के अधिवेशन की एक घटना लिख रहा हूँ।

अधिवेशन के अंतिम दिन टंडनजी का लंबा भाषण होता था जो अत्यंत मार्मिक और स्मरणीय हुआ करता था। शिकोहाबाद में टंडनजी ने भाषण करते हुए कहा, 'जीवन में भावना का ही महत्त्व है। यदि भावना नहीं हो तो गंगा जिसे हम इतना महत्त्व देते हैं, वह एक नदी ही तो है।' टंडनजी का इतना कहना था कि एक लंबे झोंटेवाला व्यक्ति भीड़ में से उठकर खड़ा हो गया और बोला, 'टंडनजी ने गंगा को साधारण नदी बताकर हमारी पवित्र गंगा माता का अपमान कर दिया है। हम यह सहन नहीं कर सकते।' उस व्यक्ति के साथ हाँ-में-हाँ मिलाने को उसके और भी दो-चार शिष्य-प्रशिष्य खड़े हो गये। सभा में बावेला मच गया। टंडनजी ने उसे शांत करते हुए गंगा के प्रति अपनी गहरी आस्था बतायी और 5-7 मिनट गंगा की महिमा का वर्णन किया, उसके बाद फिर उस व्यक्ति को संबोधित करते हुए वे बोले, 'भाई ! अब तो आप संतुष्ट हो गये होंगे कि मैंने गंगा का अपमान नहीं किया है।' परंतु वह झोंटेवाला भी एक ही था। वह फिर उठ कर बोला 'अपमान तो आपने कर ही दिया है। इस लीपापोती से क्या लाभ है!' मैं मंच पर बैठा था और मेरे पीछे अन्य साहित्यकारों के साथ मेरे मित्र अर्जुन चौबे काश्यप बैठे थे। काश्यपजी ने धीरे-से कहा, 'गुलाब ! मेरा खून उबल रहा है। जी करता है इस झोंटेवाले का झोंटा पकड़कर इसे धरती पर घसीटूँ।' टंडनजी तो विनय की मूर्ति थे। जो व्यक्ति एक सदस्य की भी आपत्ति पर उत्तर प्रदेश विधानसभा की अध्यक्षता से त्यागपत्र देने को प्रस्तुत रहता हो, उसकी विनम्रता का क्या कहना! उन्होंने फिर कहा, 'भाई, यदि गंगामाता के प्रति इतनी भक्ति निवेदित करने पर भी आपको संतोष नहीं हुआ तो मैं आपसे क्षमायाचना करता हूँ कि मेरे निर्दोष कथन से भी आपको क्षोभ

हुआ। आप मुझे क्षमा करें।' उस दुष्ट झोंटेवाले की ओर सारी सभा की क्रुद्ध दृष्टि लगी हुई थी। वह भुनभुनाता हुआ लोगों के समझाने पर इस प्रकार रोषपूर्ण मुद्रा में बैठने को राजी हुआ जैसे उसने टंडनजी पर ही नहीं सारी सभा पर बहुत बड़ा अहसान कर दिया हो।

उत्तर प्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रतापगढ़ अधिवेशन के विषय में तो मुझे प्रतापगढ़ से मेरे मित्र राजेश्वर सहाय त्रिपाठी ने पत्र भेजा था कि कांग्रेस सरकार की ओर से डिप्टी कमिश्नर को कहा गया है कि प्रतापगढ़ में बड़े सार्वजनिक आयोजन करने और आगंतुक सैकड़ों व्यक्तियों को ठहराने के एक मात्र स्थान हमारी धर्मशाला आयोजन के लिए न मिलने दें। यह कोई नयी या आश्चर्यजनक बात नहीं थी। कांग्रेस में हिंदी के तो एक से एक भक्त थे परंतु राजनीति की दृष्टि से उसे हिंदी के नाम से सांप्रदायिकता की गंध आती थी। राजेश्वर सहाय त्रिपाठी सोशलिस्ट पार्टी में थे अतः यह भी एक कारण अधिवेशन के विरोध का हो सकता था। अधिवेशन का सभापतित्व बेढबजी ही करनेवाले थे। मैंने प्रतापगढ़ मुनीम को सूचित किया कि वे डिप्टी कमिश्नर के किसी भी सरकारी आदेश की परवाह न करके धर्मशाला साहित्य सम्मेलन के लिए आरक्षित कर दें। अधिवेशन में मैं स्वयं सम्मिलित होने आ रहा हूँ। यह अधिवेशन बड़ी शान-बान से हुआ। इसमें पहली और अंतिम बार सभा में बेढबजी से मेरा मतभेद हुआ। ठाकुर श्रीनाथसिंह, जिनकी चर्चा मैं हरिद्वार साहित्य सम्मेलन में श्रीमती चंद्रावती लखनपाल के पारितोषिक के संबंध में कर चुका हूँ, इस बार एक नया शिगूफा लेकर आये। उन्होंने सम्मेलन में प्रस्ताव रक्खा कि मैथिलीशरणजी की नवप्रकाशित पुस्तक, जिसका नाम संभवतः **कर्बला** था, में हिंदू धर्म पर आक्षेप किया गया है अतः उस पुस्तक की घोर निंदा करते हुए सम्मेलन प्रस्ताव करता है कि उसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ जला दी जायँ। बेढबजी को भी मित्रता के नाते चिकनी-चुपड़ी बातें करके उन्होंने मना लिया। किसी भी प्रतिनिधि ने पुस्तक पढ़ी नहीं थी अतः ठाकुर श्रीनाथसिंह की जोरदार वकृता से प्रभावित होकर सभी चुप्पी मारे बैठे थे। सम्मेलन के एक स्तंभ पं. सीताराम चतुर्वेदीजी को भी श्रीनाथसिंह ने अपनी ओर कर लिया था। प्रस्ताव पास होने ही वाला था। मुझे यह बहुत अनुचित लग रहा था। मैथिलीशरणजी अत्यंत धार्मिक व्यक्ति थे। मुझ पर उनका अपार स्नेह रहता था। वे बेढबजी के भी मित्र थे। यद्यपि मैंने भी पुस्तक नहीं देखी थी पर मैं समझ रहा था कि यह प्रस्ताव पास कराके श्रीनाथसिंह अपनी पुरानी आदत के अनुसार

बड़े लोगों की हेठी करके अपनी हीन-भावना को संतुष्ट करना चाहते हैं। मैंने उठकर कहा, 'मैथिलीशरणजी की वह पुस्तक हाल में प्रकाशित हुई है। उसे बहुत-से सदस्यों ने, पढ़ना तो दूर रहा, देखा भी नहीं है। मैथिलीशरणजी हमारे परम आदरणीय कवि हैं। एकाएक इस प्रकार का प्रस्ताव पास करने के बजाय मेरा संशोधन है कि एक उपसमिति बना दी जाय जो ठाकुर श्रीनाथसिंह के आरोप की सत्यता की जाँच करे। अगले अधिवेशन में उस उपसमिति की रिपोर्ट आने के बाद ही सम्मेलन इस विषय में कोई कदम उठाये।' बेढबजी, सीताराम चतुर्वेदी, श्रीनाथसिंह तथा काशी और प्रयाग की पूरी मंडली को श्रीनाथसिंह ने मित्रता की डोर से बाँध रक्खा था। कई उनके प्रस्ताव के समर्थन में जोरदार भाषण भी कर चुके थे अतः यह उनकी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था। मैं अकेला था और अपने दल से अलग पड़ गया था। फिर भी सत्य और न्याय का बल मेरे पक्ष में था। एक अपरिचित व्यक्ति ने मेरे संशोधन को उचित ठहराते हुए मेरा समर्थन कर दिया। सभा में भुनभुनाहट होने लगी। एक दो प्रसिद्ध व्यक्तियों ने उपसमिति बनाने का प्रचंड विरोध करते हुए जोरदार भाषण भी दिये जिनमें तथ्य से अधिक उनका व्यक्त्वि ही बोलता था। परंतु सदस्यों पर तो मेरी बात के औचित्य का प्रभाव पड़ने लगा था। मेरे गुरु बेढबजी भी श्रीनाथ सिंह को अपनी स्वीकृति दे चुके थे यद्यपि वे अध्यक्ष होने के कारण मौन थे। उनके सभी मित्र और भक्त, मुझे छोड़कर प्रत्यक्षतः श्रीनाथ सिंह के पक्ष में थे इसलिए प्रस्ताव के प्रति उनका दृष्टिकोण भी प्रत्यक्ष था। अंत में मेरे आग्रह पर मतदान हुआ और बनारस तथा इलाहाबाद के सभी महारथियों ने आश्चर्य से देखा कि उन महारथियों को छोड़कर सभी प्रतिनिधि मेरे साथ थे तथा मेरा संशोधन बहुत बड़े बहुमत से पारित हो गया। यथार्थ में तो यह मेरी नहीं, नीति और औचित्य की विजय थी। बेढबजी सभा के बाद रुष्ट होकर मुझसे बोले, 'अब तो आप बहुत बड़े नेता हो गये हैं।' मैं चुप रहा। मैं जानता था कि उनका क्रोध घड़ी दो घड़ी से अधिक नहीं ठहरनेवाला है इसलिए इस बात को टालने में ही भलाई है।

कराँची का अ0 भा0 हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन

हरिद्वार हिंदी साहित्य सम्मेलन के बाद मुझे 1946 में कराँची में हुए अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन में बेढबजी, करुणापतिजी, सीतारामजी चतुर्वेदी तथा बेधड़कजी के साथ काशी से प्रतिनिधि बनकर जाने का अवसर मिला। वहाँ

हम लोग एक साथ ही ठहरे थे। वहाँ पंडाल में श्रोताओं में पुरुषों के अनुपात में स्त्रियों की संख्या प्रायः 80 प्रतिशत रहती थी। अतः शहर के लोग समझते थे कि महिला-सम्मेलन हो रहा है। पंजाब और सिंध में उन दिनों पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का हिंदी के प्रति अधिक प्रेम था। स्त्रियाँ ही अधिकांशतः हिंदी पढ़ती थीं। पुरुषों में तो उर्दू पढ़नेवाले ही अधिक थे। खुले अधिवेशन के दूसरे दिन संध्या समय एक जीप से हम चारों व्यक्ति समुद्र के किनारे घूमने गये थे और किनारे की बालू पर टहलते हुए लहरों का आवर्तन देख रहे थे। बेढबजी काली शेरवानी और गाँधी कैप में सजे थे जब कि हम लोग सभी उत्तर भारत के परिधान में थे। उस दिन कराँची में पंडित जवाहर लाल नेहरु आनेवाले थे। समुद्र के किनारे घूमते विद्यार्थियों ने बेढबजी को उनके गौरवर्ण और भव्य व्यक्तित्व के कारण जवाहरलाल नेहरू समझकर जवाहर लाल नेहरु की जय का नारा लगाना शुरु किया। देखते-देखते बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी। स्वतंत्रता-पूर्व के दिनों की बात है। राष्ट्रीय नेताओं के प्रति जनता के हृदय में अगाध प्रेम था। उस समय भारत का विभाजन नहीं हुआ था और कराँची भारत का ही अंग था। वहाँ के विद्यार्थियों ने केवल चित्रों में ही जवाहरलालजी को देखा होगा। अतः बेढबजी को देखकर उन्हें जवाहरलाल का भ्रम हो जाना आश्चर्य की बात नहीं थी। बेढबजी भी इस अवसर पर कब चूकनेवाले थे! उन्होंने खड़े होकर **जय हिंद** का नारा लगाना शुरु किया जिसे भीड़ बड़े उत्साह से दुहराने लगी।

लौटकर प्रतिनिधि निवास में श्रीनारायणजी चतुर्वेदी के कक्ष में, जहाँ सभी साहित्यिकों का दरबार लगा रहता था, बेढबजी ने बड़ी शान से समुद्र के किनारे की घटना का वर्णन किया कि किस प्रकार लोगों ने उन्हें जवाहरलाल समझकर सलामी दी थी। श्रीनारायणजी की बगल में मथुरा के वयोवृद्ध कवि अमृतलाल चतुर्वेदी बैठे थे जो अपने सिर के सफेद बालों के कारण बेढबजी से बहुत अधिक ज्येष्ठ दिखलाई देते थे। वे बड़े विनोदी और हाजिरजवाब थे। उनसे न रहा गया। तुरत बोले, 'बेढबजी, मेरे साथ तो इससे भी बड़ी विस्मयजनक बात हुई। मैं भी संध्या को समुद्र के किनारे घूमने गया था और मुझे भी एक बहुत बड़ी भीड़ ने घेरकर सलामी दी थी। परंतु मुझे तो लोगों ने मोतीलाल नेहरू समझा और मोतीलाल नेहरू की जय का नारा लगाया। सुनते ही श्रीनारायणजी समेत सारी मंडली हँसी के ठहाकों से गूँज उठी। बेढबजी ने भी इन ठहाकों में योग दिया। उन्हें बहुत ही कम बार इस प्रकार झेंपना पड़ा था। जब दूसरों को

अपनी सूझ से विनोद का पात्र बनानेवाला स्वयं विनोद का पात्र बन जाय तो वह दृश्य देखते ही बनता है। एक बार बेढबजी को इसी प्रकार और लज्जित होना पड़ा था जब कोलकाता में एक बड़ी दुकान से उन्होंने सिगार खरीद कर उसे पीना शुरू कर दिया। दुकानदार ने उनका ध्यान दुकान में टँगे बोर्ड की ओर खींचा जिसमें लिखा था—'दुकान के अंदर धूम्रपान वर्जित है।' बेढबजी ने कहा, 'खूब है, आप सिगार बेचते हैं और उसे यहाँ पीने को मना करते हैं।' दुकानदार ने कहा, 'जनाब, बेचने को तो हम जुलाब भी बेचते हैं पर क्या इस दुकान में उसका प्रयोग किया जा सकता है।' बेढबजी को उस अवसर पर भी कोई उत्तर नहीं सूझा था और उन्हें झेंपना पड़ा था।

कराँची साहित्य सम्मेलन में कवि-सम्मेलन की एक विशेष घटना की भी मनोरंजन की दृष्टि से चर्चा करना आवश्यक है। कवि-सम्मेलन के सभापतित्व के लिए सोहनलाल द्विवेदी का नाम प्रस्तावित हो गया और वे उस आसन पर जा बैठे। यद्यपि सोहनलाल बड़ी सजधज से रहते थे और कविसम्मेलनों में थोड़ा बहुत जमा भी लेते थे परंतु प्रतिष्ठित कवि-वर्ग, विशेष कर हम लोगों की जमात, उन्हें बड़ा कवि नहीं मानती थी। वे बहुत बनते थे और यह बनना बनारसवालों को कभी रास नहीं आया है। सब लोगों ने तय किया कि सोहनलाल के सभापतित्व में कोई कवि कविता नहीं पढ़े। कराँची के कविसम्मेलन में जमानेवाले कवियों में बेढबजी, बेधड़कजी ही प्रमुख थे। बेढबजी के असहयोग करने से बाहर से आया अन्य कोई कवि अपनी कविता नहीं पढ़ता क्योंकि वे सभी से वरिष्ठ थे। बाहर से आये कवियों के कविता नहीं पढ़ने से कविसम्मेलन का रंग फीका पड़ जाता। कानोंकान इस बात की भनक टंडनजी तक जा पहुँची जो सभी विशिष्ठ प्रतिनिधियों के साथ मंच के नीचे, आगे की पंक्ति में बैठे थे। वे उद्विग्न हो उठे और उठकर बेढबजी के पास आकर बोले, 'बेढबजी, क्या बात है ! सुना है आप कविता नहीं पढ़ेंगे।' बेढबजी ने कहा - 'मैं क्या करूँ, बेधड़कजी आदि अन्य सभी कवि कहते हैं कि सोहनलाल द्विवेदी की अध्यक्षता में हम कविता नहीं पढ़ेंगे। उन्हें राजी कीजिए।' टंडनजी बेधड़क के पास गये और बोले, 'बेधड़कजी, क्या बात है, सिंध जैसे अहिंदी प्रदेश में हजारों की भीड़ इस कविसम्मेलन के लिए आयी है। हिंदी की मर्यादा का प्रश्न है। यदि कविसम्मेलन विफल हो जायगा तो हम लोगों की कितनी भद्द होगी! यदि मुझे पहले से पता होता तो मैं, आप लोग जिसे चाहते, उसे ही कविसम्मेलन का अध्यक्ष बना देता, परंतु अब क्या हो सकता है। अब तो

यहाँवालों के सम्मुख अपनी प्रतिष्ठा बचानी ही होगी।' बेधड़कजी नें अपने को बचाने की नीयत से कहा -- 'गुलाब से कहिए। उसीने सब से पहले सोहनलाल के सभापतित्व पर आपत्ति उठायी थी। उसीकी आपत्ति पर बेढबजी ने यह निर्णय लिया है।' टंडनजी तुरत मंच पर बैठे कवियों के बीच में मुझे ढूँढकर और मेरी पीठ पर प्रेम से हाथ रखकर मीठे स्वर में बोले, 'क्यों बेटा, तुम कविता नहीं पढ़ोगे? यदि हिंदी के श्रेष्ठ कवि कविता नहीं पढ़ेंगे तो इस प्रदेश के ये हजारों लोग, जो कविता सुनने की आशा में आये हैं, क्या सोचेंगे!' मैं उनकी वाणी सुनते ही लज्जा और संकोच से पानी-पानी हो गया। मैंने दबी हुई आवाज में कहा, 'नहीं बाबूजी, कौन कहता हैं, मैं कविता नहीं पढूँगा। मैं कविता अवश्य पढूँगा।' मेरा इतना कहना था कि टंडनजी ने बेढबजी को संबोधित करते हुए कहा, 'बेढबजी, गुलाब ने हामी भर दी है। अब आपको भी कविता पढ़ने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।' बेढबजी मुस्कुरा दिये और इस प्रकार इस छोटे से असहयोग के नाटक का अंत हुआ।

कराँची सम्मेलन में एक मनोरंजक घटना और हुई। मैं ऊपर बता चुका हूँ कि सोहनलाल से काशीवाले थोड़ा चिढ़ते थे। अधिवेशन में हम लोग तो तीन-चार दिनों की यात्रा तय करके ट्रेन से पहुँचे थे परंतु पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी वायुयान से पहुँचे थे। उन्होंने सोहनलाल द्विवेदी के आग्रह पर उन्हें अपने साथ वायुयान से ले जाने का निश्चय किया। सोहनलाल कई बार सब को सुना-सुना कर बोलने लगे कि मैं तो अब वायुयान से लौट रहा हूँ। रेल में बहुत कष्ट होता है। यारों को उनका यह बड़बोलापन बहुत खल रहा था। सुबह हम लोग नित्य की तरह समुद्र के किनारे जीप से घूमने गये थे। हम लोगों के साथ मन्नू द्विवेदी नामक एक मस्तमौला बंबई के प्रतिनिधि भी थे। समुद्र के किनारे बालू पर एक मरी हुई मछली पड़ी थी। मन्नू द्विवेदी का ध्यान उस पर गया और उन्होंने एक योजना बना डाली। हाथ के अखबार में उन्होंने उस मछली को लपेट लिया और प्रतिनिधि आवास में आने पर, जब सब लोग चायपान के लिए चले गये थे, हाल में पड़े सोहनलाल द्विवेदी का बिस्तर खोलकर उस मछलीवाले कागज को उनके तकिये के नीचे डाल दिया और विस्तर पुनः ज्यों का त्यों बाँध दिया। दोपहर की अंतिम बैठक के बाद जब चतुर्वेदीजी के जाने का समय हो रहा था, सोहनलाल भी अपना होल्डोल और बक्सा लेकर उनके साथ वायुयान की यात्रा के लिए तैयार हो कर उनके कक्ष में चले आये। हम लोगों की ट्रेन रात में 10 बजे जानेवाली थी जब कि वायुयान

दिन के 4 बजे रवाना होनेवाला था इसलिए सभी साहित्यिक चतुर्वेदीजी को विदा करने हॉल में इकट्ठे हो गये थे जहाँ उनके सामान के बगल में सोहनलालजी का होल्डोल और बक्सा रखा हुआ था। बेधड़कजी ने सोहनलालजी को छेड़ते हुए कहा, 'सोहनलालजी, आप मित्रों को छोड़कर भाग रहे है, यह उचित नहीं हैं। संध्या को एक कविगोष्ठी में हम लोग आपको ही सभापति बनानेवाले थे परंतु आप तो अपने कविवर्ग को अधर में छोड़कर हवा में उड़ना चाहते है।' द्विवेदीजी ने पुलकित होते हुए कहा, 'भाई, तीन-चार दिन ट्रेन की लंबी यात्रा की धूल मैं नहीं फाँक सकता। चतुर्वेदीजी ने जब हवाई यात्रा का अवसर दिया है तो छोड़ कैसे सकता हूँ।' तभी पूर्व योजना के अनुसार कुछ पुस्तकें मैंने उन्हें भेंट की। वे बोले, 'बक्से में तो जगह नहीं है।' मन्नू द्विवेदी ने कहा, 'अरे, बिस्तर में तकिये के नीचे डाल लीजिए।' द्विवेदीजी ने तुरत बिस्तर खोला और तकिया उठाते ही उन्हें अखबार में लिपटा एक पैकेट दिखाई दिया। उन्होंने उत्सुकता से उसकी डोरी खोली और अखबार के कागज की पर्तें उघाड़ते ही बड़े जोरों से बोले, 'अरे, यह क्या ! उनको कागज की बंडल खोलते समय हम लोग तो देख ही रहे थे, चतुर्वेदीजी समेत अन्य सभी उपस्थित साहित्यिक भी उत्सुक हो उठे थे और लोगों ने समझा था कि द्विवेदीजी ने कोई नायाब तोहफा कराँची में खरीदा है। उसे देखने की सब के मन में स्वाभाविक उत्सुकता जाग गयी थी। परंतु किसी नायाब तोहफे के स्थान पर एक मरी हुई मछली द्विवेदीजी के हाथ में देखकर सभी हक्केबक्के रह गये। मछली काफी देर तक बंद रही थी इसलिए उसमें से तेज बदबू भी आ रही थी जो सारे हॉल में फैल गयी। कितनों ने नाक बंद कर ली और कितने ही उठकर द्वार की ओर भागे। मन्नू द्विवेदी ने कहा, 'हरे राम ! सोहनलालजी, आप मछली खाने के इतने प्रेमी है कि बिस्तर में लपेटकर रखते है। आपने सारे द्विवेदी-समाज को कलंकित कर दिया है।' चतुर्वेदीजी, जो अब तक अवाक् होकर देख रहे थे, सोहनलालजी से बोले, 'सोहनलाल !.तुम इतने पतित हो, यह मैं नहीं जानता था। तुमने इस कमरे का सारा सामान दूषित कर दिया।' सोहनलालजी के चेहरे का रंग उड़ गया था। बोले, 'चतुर्वेदीजी, मैं नहीं जानता, यह मरी हुई मछली कहाँ से मेरे बिस्तर में आ गयी। किसीने मेरे साथ यह दुष्टता की है।' चतुर्वेदीजी भी संभवतः तब तक समझ गये थे कि यह किसी का कुचक्र है क्योंकि मछली खानेवाला भी उसे लपेट कर अपने बिस्तर में इस प्रकार नहीं रख सकता कि सारे बिस्तर में दुर्गंध हो जाय। वे थोड़ा रुककर बोले, 'किसी भी अवस्था में अब तुम हमारे साथ नहीं चल

सकते। तुम्हारा बिस्तर और बक्स सब दूषित हो चुके हैं। तुम वैष्णव समाज के नियम तो जानते ही हो। अब तुम्हें साथ ले जाना तो दूर रहा हम तुम्हारा या तुम्हारे सामान का स्पर्श भी नहीं कर सकते। तुम जा कर इन्हें धोओ और स्नान करो।' प्लेन का समय हो चुका था। उधर द्विवेदीजी मछली को फेंकने गये, इधर चतुर्वेदी का सामान कार में लद गया और वे हवाई जहाज पकड़ने को रवाना हो गये। द्विवेदीजी ने ट्रेन में अपना रिजर्वेशन भी हवाई जहाज की यात्रा के चक्कर में नहीं कराया था। फलस्वरूप वे हम लोगों के साथ रात में ट्रेनयात्रा में भी सम्मिलित नहीं हो सके। कविगोष्ठी के लिए भी किसीने उनसे नहीं कहा। पता नहीं, आगे उन्होंने किस प्रकार कराँची से सुदूर उत्तर प्रदेश में उन्नाव तक की यात्रा तय की।

कराँची के साहित्य सम्मेलन के समय भी हिंदी हिंदुस्तानी का विवाद चारों ओर छाया हुआ था। महात्माजी ने, सम्मेलन की, हिंदी को हिंदुस्तानी पर तरजीह देने की नीति के कारण, सम्मेलन की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था। सम्मेलन के कुछ वक्तागण हिंदुस्तानी के विरुद्ध भाषण करते हुए महात्माजी के विरुद्ध भी कुछ तीखी बातें बोल गये थे। इस चर्चा को बीच में ही रोककर महात्माजी का टंडनजी को लिखा पोस्टकार्ड कि मैं तुलसीदास के रामचरित मानस की भाषा को हिंदुस्तानी मानता हूँ, टंडनजी ने सब को पढ़कर सुनाया और बोले कि गाँधीजी हिंदुस्तानी का नाम भले ही लें, वे दिल से हिंदी के ही हिमायती हैं। हिंदुस्तानी का नाम तो वे केवल राजनीति के लिए लेते हैं। मैं टंडनजी के ठीक पीछे मंच पर बैठा था और टंडनजी के हाथ के उस पोस्टकार्ड को पढ़ भी सका था। रामचरित मानस की भाषा को यदि हिंदुस्तानी माना जाय तो हिंदी-हिन्दुस्तानी का झगड़ा समाप्त हो जाता है। जब सदस्यों ने हल्ला मचाया कि इस पोस्टकार्ड को प्रकाशित कर दिया जाय तो टंडनजी ने कहा कि बापू ने इसे प्रकाशित करने को मना किया है। देश के विभाजन के बाद हिंदुस्तानी का प्रश्न यद्यपि समाप्त हो गया है और हिंदी की एक शैली के रूप में इसका स्वाभाविक रूप विकसित हो गया है पर इसके संबंध में एक मनोरंजक घटना का वर्णन यहाँ कर रहा हूँ जिसे मुझे एक लोकसभा के सदस्य ने सुनाया था—

जब अब्दुल कलाम आजाद, भारत के शिक्षामंत्री थे तो उन्होंने सरकार की ओर से एक हिंदुस्तानी के कोष का निर्माण कराया। उसकी शब्दावली के आधार पर लोकसभा में फिरोज गाँधी ने प्रश्न किया 'क्या बिचबिंदी के पहलुआ यह बतायेंगे कि भारत की समाजी हालता पहले की बनिस्पत अब

कैसी है।' लोकसभा में इस वाक्य को सुनते ही हंगामा मच गया क्योंकि केन्द्रीय लोकसभा के लिए **बिचबिंदी,** प्रधान मंत्री के लिए **पहलुआ** तथा सामाजिक के लिए **समाजी** जैसे शब्द उस नव-प्रकाशित शब्दकोश में दिये गये थे। हिंदुस्तानी कोष की यह भाषा देखकर लोग हैरान हो गये और वह शब्दकोश सदा के लिए भुला दिया गया। इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा का निर्माण शब्दकोशों से या सरकारी आदेशों से नहीं किया जा सकता। समर्थ साहित्यकारों के द्वारा ही यह कार्य संपन्न हो सकता है। हिंदुस्तानी के नाम से अभीप्सित भाषा प्रेमचंद की कहानियाँ में या मेरी ग़ज़लों, नज़्मों एवं मसनवी में देखी जा सकती है। वह भाषा के स्वाभाविक आंतरिक विकास-क्रम की उपज है, जो स्वतः विकसित हुई है, दफ्तरों में बैठकर शब्दों के कृत्रिम जोड़तोड़ से नहीं गढ़ी गयी है। उसे हिंदी की एक शैली के रूप में ही माना जाना चाहिए।

बंबई का अ0 भा0 हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन

1948 में बंबई में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन होना था। अधिवेशन के सभापति थे राहुल सांकृत्यायन तथा साहित्य-परिषद् की अध्यक्षता पं. कमलापति त्रिपाठी करनेवाले थे। मैं, कमलापतिजी, बेढबजी, बेधड़कजी, बालकराम शास्त्री, सीतारामजी चतुर्वेदी, दिलीपजी आदि की बनारस की मंडली के साथ था। मनोनीत अध्यक्ष राहुलजी भी उसी ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। वे एक दूसरे डिब्बे में थे। हम बनारस के सभी लोग एक साथ थे। दिन के समय राहुलजी हम लोगों के डिब्बे में साहित्यिक चर्चा के लिए आकर बैठ गये। बेधड़कजी चीनी भाषा की नकल पर काल्पनिक रूप से चीनी की शब्दावली बनाकर सभाओं में भाषण देते थे और उसके अर्थ का भी हिंदी-अनुवाद कर दिया करते थे जिससे लोगों को यह भ्रम बना रहे कि वे सचमुच चीनी भाषा में ही भाषण कर रहे हैं। उनके इस चीनी-भाषा के ज्ञान की चर्चा राहुलजी तक भी पहुँच चुकी थी क्योंकि हिंदी-क्षेत्र में वे ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे जो चीनी भाषा की जानकारी का दावा करते थे। राहुलजी ने बेधड़कजी से पूछा, 'आपने चीनी कहाँ सीखी।' बेधड़कजी ने गंभीरता से उत्तर दिया, 'मैंने दो वर्ष शांतिनिकेतन में रहकर एक चीनी विद्वान से यह भाषा सीखी है।' इसके बाद बेधड़कजी ने उसी गंभीरता से राहुलजी से कहा, 'राहुलजी, शेनचीन शब्द का क्या अर्थ है, मेरी समझ में ठीक से नहीं आ रहा है।' राहुलजी थोड़ी देर सोचकर

बोले', इस शब्द का ठीक पर्याय हिंदी में मिलना कठिन है।' बेधड़कजी ने फिर कहा, 'मेरी समझ में इसका अर्थ शांति होना चाहिए।' राहुलजी ने फिर उसी सतर्कता से उत्तर दिया। 'हाँ, शांति के अर्थ में इस शब्द को ग्रहण किया जा सकता है।' राहुलजी के अपने डिब्बे में लौट जाने के बाद हम लोगों ने इस वार्तालाप का पूरा आनंद उठाया। बेधड़कजी तो चीनी भाषा का एक अक्षर भी नहीं जानते थें परंतु हम नहीं जानते थे कि राहुलजी का चीनी भाषा जानने का दावा कहाँ तक सही था।

समुद्र के किनारे एक विस्तृत मैदान में पंडाल बना था तथा उसीके निकट एक पंक्ति में प्रतिनिधियों के लिए टीन और फूस से अस्थायी आवास बनाये गये थे। हम जिस शामियाने में ठहरे थे उसीके बगल में पं. रामकुमार चौबे अपनी पुत्री के साथ ठहराये गये थे। उनके विषय में यह प्रसिद्ध था कि उन्होंने 14 विषयों में एम. ए. करने का विश्व-रेकार्ड स्थापित किया है। वे दिनभर जिस प्रकार अपनी पुत्री के साथ जोर-जोर से तर्क और वादविवाद करते थे वह हम लोगों को भी सुनाई पड़ता था और हमारी शांति भी उससे भंग हो जाती थी। मैंने उनकी बातों से समझ लिया था कि उन्होंने इतने विषयों में एम. ए. करके विद्या के लिए स्थान बनाने को अपने सामान्य ज्ञान का कोष रीता कर दिया है। सुना है एक बार वे पं. जवाहरलालजी से मिले थे और अपनी 14 विषयों में एम. ए. करने की बात उन्हें बतायी थी। सुनकर पंडितजी ने मुस्कुराते हुए पूछा था कि जितने विषयों का अध्ययन किया उनमें से कुछ दिमाग में रखा भी या एक कान से डालकर दूसरे कान से उसे निकल जाने दिया है। मैदान के विविध खेमों में अन्य हिंदी के नेतागण रुके थे। कमलापतिजी को, काशी के निवासी, जो बंबई में व्यवसाय करके काफी समृद्धि पा चुके थे, अपने प्रतिष्ठानों में आमंत्रित करने आ पहुँचे। फलतः कमलापतिजी को अधिवेशन के बचे हुए समय में प्रतिदिन एक दो प्रतिष्ठानों में भी आतिथ्य ग्रहण करना होता था जहां बेढबजी के साथ मैं भी रहता था। जहाँ-जहाँ हम जाते, कमलापतिजी को तो कीमती उपहारों की भेंट मिलती ही थी, साथ रहने के कारण बेढबजी और मुझे भी उसका लाभ मिल जाता था। बेढबजी ने एक ऐसे ही स्वागत के अवसर पर कहा कि मुझे पता होता कि राजनीति में इतना लाभ है तो बजाय साहित्य में कलम घिसने के, राजनीति में ही काम करता। कमलापतिजी ने हँसते हुए कहा, 'हाँ, बेढबजी, यह माल्यार्पण और आदर-सत्कार तो बहुत अच्छा लगता है। पर जब जेल में चक्की पीसनी पड़ती तब छठी का दूध याद आ जाता।'

बंबई में रेडियोवाले हम लोगों का काव्यपाठ बंबई के रेडियो-स्टेशन से कराना चाहते थे और इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को दो-दो सौ रुपये दे रहे थे। हम सभी इससे प्रसन्न थे क्योंकि बंबई का कुछ खर्चा इससे निकल जाता। कविसम्मेलन का समय आदि निश्चित करके रेडियो-स्टेशन से आये आकाशवाणी के अधिकारी ने मूर्खतावश कह दिया, 'हम लोगों के मन में तो कवियों को सहायता पहुँचाने की बराबर चिंता रहती है। इसी लिए हमने तुरत इस काव्यपाठ का आयोजन किया है।' उनका यह कहना था कि जैसे बारूद में चिन्गारी लग गयी। बेढबजी भला कवियों के लिए इस प्रकार की ओछी बात कैसे सहन कर सकते थे! उन्होंने क्रुद्ध होकर रेडियो के ऐग्रीमेंट के कागज को फाड़ते हुए कहा, 'क्या रेडियो के पैसों के बल पर ही हम इतने बड़े हुए हैं! क्या आप ही हमारे घर का खर्च चलाते हैं! जाइए, अब कोई कवि आपके रेडियो स्टेशन पर कविता पढ़ने नहीं जायगा।' रेडियो के अधिकारी के चेहरे का रंग उड़ गया। वह हाथ जोड़कर अपनी बात के लिए क्षमा माँगने लगा। परंतु बेढबजी तो बेढब ही थे। उन्हें अपनी बात से टस से मस भी नहीं किया जा सकता था। उन्होंने उसे डपटते हुए कहा कि अब आप चुपचाप यहाँ से चले जाइए। वह बेचारा अपना-सा मुँह लेकर चलता बना। काव्यपाठ करने वाले 5-6 कवियों में, मेरे और बेढबजी के अतिरिक्त, बेधड़कजी, श्यामनारायण पांडे, राजस्थान के कवि मुकुल और इलाहाबाद की कवयित्री चंद्रमुखी ओझा 'सुधा' थी। अनायास आते हुए दो सौ रुपयों के हाथ से निकल जाने की कलक सब के मन में थी पर क्या कर सकते थे! बेढबजी के सामने कोई मुँह खोलने का भी साहस नहीं कर सकता था। अंत में बेधड़क ने मुझसे कहा, 'गुलाब भाई, एक तुम्हीं बेढबजी को समझा सकते हो।' परंतु मैं इस सत्साहस या दुस्साहस के लिए तैयार नहीं था। दो घंटे के बाद, सूचना मिलने पर बंबई रेडियो का स्टेशन-डाइरेक्टर सिनेमा के प्रसिद्ध गीतकार 'प्रदीप' तथा काशी के हम लोगों के एक परिचित कवि मोती बी. ए, जो उन दिनों बंबई में रहते थे, को साथ लेकर दौड़ा-दौड़ा आया। वह रेडियो स्टेशन के उस कर्मचारी की मूर्खता के लिए बारबार क्षमा-याचना करने लगा। अंत में बेढबजी द्रवित हुए। उन्होंने कहा, 'ठीक है, कविगण रेडियो-स्टेशन से कवितापाठ तो कर देंगे परंतु काव्यपाठ के लिए कोई आपका पैसा नहीं छूएगा।' रुपये देने का उसने बहुत आग्रह किया परंतु बेढबजी इसके लिए किसी भी अवस्था में राजी नहीं हुए। उसके चले जाने पर कवियों का मुँह देखने लायक था जिन्हें कविता भी पढ़नी थी और एक भी पैसा मिलनेवाला नहीं था। साहित्य सम्मेलन के कविसम्मेलन में तो उन दिनों

पारिश्रमिक देने की प्रथा थी नहीं, रेडियो से थोड़ी आशा बँधी थी परंतु वह उस कर्मचारी की मूर्खतापूर्ण उक्ति तथा बेढबजी के रोष के कारण समाप्त हो गयी थी। सब से अधिक दयनीय मुद्रा बेधड़कजी की थी। वह मुझसे कहने लगे। 'गुलाब भाई, भला यह कहाँ की बुद्धिमानी है। रेडियोवाले क्या अपने पाकिट से पैसे दे रहे थे ? बेढबजी ने सब की लुटिया गर्क कर दी।'

खुले अधिवेशन में बंबई के मुख्य मंत्री बी. जी. खेर, तथा अन्य मंत्री गुजराती के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार के. एम. मुंशी, तथा गृहमंत्री एस. के. पाटिल आदि भी आये थे। के. एम. मुंशी ने नागरी लिपि को सभी भारतीय भाषाओं की लिपि स्वीकार कर लिये जाने की आवश्यकता पर बहुत सुंदर भाषण दिया। हम लोगों की मंडली में पं. बालकराम शास्त्री बड़ा प्रचंड भाषण देते थे। वे जब अपनी गोखुर के समान मोटी चुटिया फटकारते हुए हिंदी के पक्ष में बोलते तो समा बँध जाता था। बेढबजी उनके लिए परशुराम की उपमा देते थे।

इस बार बालकराम शास्त्री ने बोलते-बोलते आवेश में कह दिया, '15 अगस्त भारतीय इतिहास का काला दिन है।' वे आगे कहना चाहते थे कि उसी दिन पाकिस्तान बना परंतु स्वतंत्रता-दिवस के विषय में इस प्रकार की उक्ति सुनते ही सभा में हंगामा मच गया। कमलापतिजी को उठकर माइक के आगे से उन्हें खींच लेना पड़ा क्योंकि कमलापतिजी कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेता थे ओर बंबई के सारे कांग्रेसी नेताओं के सामने उनकी मंडली के एक व्यक्ति के इस कथन से उनकी बड़ी हेठी हो गयी थी। बेढबजी ने मंच पर हम लोगों के बीच में बैठते समय बालकराम शास्त्री से कहा - अब तक तो मैं कहता था — **बालक बोलि बधौं नहीं तोही**, पर अब कहना पड़ता है --**कदुवादी बालक बधजोगू**

बालकराम शास्त्री के नाम पर तुलसीदास की इन चौपाइयों के प्रयोग से मंच पर का तनाव दूर हो गया। बालकराम अपनी उक्तिका स्पष्टीकरण करना चाहते थे परंतु उसको सुनने को कोई तैयार नहीं था। बंबई का अधिवेशन और भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। साहित्य-परिषद् में राहुलजी की मंडली साम्यवादी विचारधारा के पक्ष में थी और हम लोगों की मंडली, जिसके प्रवक्ता कमलापतिजी और बेढबजी थे, गाँधीवाद का समर्थन कर रही थी। साहित्य परिषद् की अध्यक्षता कमलापतिजी ही कर रहे थे। अंत में बाजी हम लोगों के हाथ रही। कमलापतिजी के ओजस्वी भाषण तथा बेढबजी के चुटीले व्यंग्यबाणों के सामने साम्यवादी विचारधारा के समर्थकों की एक न चली। परंतु इसका एक मनोरंजक पहलू यह था कि दूसरे दिन अगले वर्ष के लिए प्रधान मंत्री के चुनाव

के समय हमारे दल के अधिकांश सदस्य तो पंडित सीताराम चतुर्वेदी द्वारा निर्देशित **देवता** नाटक देखने चले गये और साम्यवादी-दल पूरी मंडली के साथ उपस्थित होकर अपने पक्ष के एक साहित्यिक को हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमंत्री के पदपर चुनवाने में सफल हो गया। हमारी जमात के **भारत** के संपादक श्री बलभद्र प्रसाद मिश्र हम लोगों के मतों से वंचित होने के कारण कुछ ही मतों से पराजित हो गये और बाद में हम लोगों को अपनी नाटक-प्रियता के लिए फटकारते हुए जब वे अपना करुण विलाप करने लगे तो हमें उस पराजय में भी जीतने का आनंद आया।-बंबई से लौटते समय मौलिचंद्र शर्मा भी हमारे साथ हो लिये थे जो सम्मेलन के प्रधानमंत्री थे। जहाँ भी कोई बड़ा स्टेशन आता, लोग हमें फूलमालाओं से लाद देते थे जिसका परिणाम यह होता था कि डिब्बे में चढ़ने को इच्छुक भीड़ यह समझकर लौट जाती थी कि यह किसी बारात के लिए रिजर्व किया हुआ डब्बा है। चूँकि मालाएं मुख्यतः कमलापतिजी को ही पहनायी जाती थीं, मैंने उनसे कहा कि ये लोग बरातपार्टी में दुलहा आपको ही समझ रहे हैं। इस पर बेधड़क पूछ बैठे कि दुल्हन कहाँ है। बगल में ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल मलकानी साहब की सब से बड़ी पुत्री हरदेवी मलकानी को लक्ष्य कर के मैंने कहा दुल्हन तो लोग इन्हें ही समझते होंगे। हरदेवी, जिसने विवाह नहीं किया था, शर्म से लाल हो गयी। कमलापतिजी ने बाद में मुझे बताया कि सचमुच यदि मैं पत्नी की मृत्यु के बाद दुलहा बन सकता तो जीवन में मुझे कठोर संयम में अपनी आधी चेतना न लगानी पड़ती और अपनी शक्ति का बहुत बड़ा भाग आत्मसंयम में व्यर्थ न गँवाना पड़ता, परंतु मैं विवश था क्योंकि छोटे भाई ने पत्नी की मृत्यु के बाद विवाह नहीं किया था, अतः उच्च कुल की मर्यादा के अनुसार मैं भी पुनर्विवाह नहीं कर सकता था।

कोटा का अ. भा. हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन

यों तो हरिद्वार, कराँची, बंबई आदि के सभी साहित्य सम्मेलन काफी रोचक संस्मरणों से भरे हैं जिनकी कुछ झाँकी, मैं उनका वर्णन करते समय, दे चुका हूँ परंतु कोटा हिंदी साहित्य सम्मेलन जो एक प्रकार से टंडनजी के समय का हिंदी साहित्य सम्मेलन का अंतिम अधिवेशन था, अपने में निराला ही था। इस अधिवेशन में सम्मेलन दो भागों में उसी प्रकार बँट गया जिस प्रकार सूरत में कांग्रेस नरम दल तथा गरम दल नामक दो भागों में विभक्त हो गयी थी। उसके

बाद सम्मेलन सरकारी चंगुल में चला गया और प्रायः दो युगों के बाद ही सुप्रीम कोर्ट तक की मुकदमेबाजी के बाद मुक्त हो सका। कोटा सम्मेलन में विभाजन की भूमिका बनी टंडनजी द्वारा हिंदी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के लिए परीक्षा-बोर्ड के नाम से एक अलग संगठन बनाने की योजना। वह विश्वविद्यालयों की सिनेट या सिंडीकेट के समान सम्मेलन के अंतर्गत रह कर भी उससे मुक्त संस्था होती जिसका काम केवल परीक्षाओं का संचालन करना होता। सम्मेलन की राजनीति का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उसके सदस्य भी सारे हिंदी-जगत से स्वतंत्र रूप से चुने हुए विद्वान रहते। टंडनजी चाहते थे कि सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा, साहित्यरत्न आदि परीक्षाओं को वही मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त हो जो विश्वविद्यालय की इंटर, बी. ए., एम. ए. आदि परीक्षाओं को है। यद्यपि सम्मेलन की बहुत-सी परीक्षाओं को विविध विश्वविद्यालयों में मान्यता प्राप्त थी परंतु सभी स्थानों पर उसे पाने के लिए विश्वविद्यालय के समान एक स्वतंत्र बोर्ड की स्थापना को वह आवश्यक समझते थे। सम्मेलन से इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए तीन व्यक्तियों की एक उपसमिति कोटा अधिवेशन के पूर्व बनवा दी गयी थी जिसने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। खुले अधिवेशन में इस निश्चय पर केवल अंतिम मुहर लगनी थी। उपर्युक्त उपसमिति में तीन सदस्य थे जिनमें से बेढबजी भी एक थे। कन्हैयालाल मिश्र जो उत्तर प्रदेश के ऐडवोकेट जंनरल थे तथा जिनकी चर्चा अपने पिताजी के टेहरी राज्य में पेट्रौल बनाने के कारखाने की योजनावाले प्रकरण में हो चुकी है, इसके संयोजक थे। तीसरे सदस्य संभवतः इलाहाबाद के प्रमुख कांग्रेसी नेता अमरनाथ अग्रवाल थे। कोटा अधिवेशन के समय सम्मेलन के प्रधान मंत्री, जहाँ तक मुझे याद है, अमरनाथ अग्रवाल थे। परंतु इन तीनों ने संयुक्त हस्ताक्षर द्वारा टंडनजी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था। केवल खुले अधिवेशन में अंतिम औपचारिक मुहर ही उस पर लगनी थी। कोटा अधिवेशन के पूर्व यह बात सामने आयी कि यदि परीक्षाबोर्ड अलग से बना दिया गया तो सम्मेलन की परीक्षाओं की प्रतिष्ठा तो संभवतः बढ़ जा सकती है परंतु सम्मेलन के अधिवेशनों का और उसके अन्य कार्य-कलापों का अंत हो जायगा। अधिकांश व्यक्ति प्रतिनिधि और दर्शक के रूप में सम्मेलन से इसलिए संबंधित रहते थे कि उसमें हिंदीप्रेम के अतिरिक्त उनका कोई न कोई निजी स्वार्थ भी रहता था। उनमें कोई परीक्षक होते थे, कोई परीक्षा-केंद्र-व्यवस्थापक या कोई सम्मेलन की परीक्षाओं में अपनी पुस्तकें पाठ्यक्रम में लगाने को इच्छुक प्रकाशक या लेखक।

इसके अतिरिक्त, परीक्षाओं की आय ही सम्मेलन की आय का प्रमुख स्रोत था। उसी आय से सारा दफ्तर का खर्च चलता था एवं साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन तथा अन्य प्रचार का कार्य संभव हो पाता था। परीक्षाबोर्ड बनने से सारा काम ठप्प हो जाने की आशंका थी। सम्मेलन के उस समय के प्रमुख सक्रिय कार्यकर्ता और उसके एक दल के नेता प्रभात शास्त्री ने बेढबजी के सामने यह समस्या रक्खी और काशी के सभी साहित्यिकों ने मिलकर तय किया कि हिंदी बोर्ड का विरोध करना आवश्यक है। यह निर्णय कोटा पहुँचने के पूर्व ही ले लिया गया था। इस प्रकार कोटा-अधिवेशन के पूर्व ही परीक्षाबोर्ड के विरोध की घोषणा कर दी गयी। दूसरी और टंडनजी के निर्देश से परीक्षा-बोर्ड का गठन भी कर लिया गया था जिसके संचालक अर्थात् रजिस्ट्रार पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी बनाये गये थे। उन्होंने परीक्षा की तिथि निश्चित करके परीक्षकों आदि की नियुक्ति भी कर दी थी जिनमें मुझे भी साहित्यरत्न की परीक्षाओं का परीक्षक बना दिया गया था। उत्तराखंड और उड़ीसा आदि प्रांतों की परीक्षाओं की कापियाँ मुझे जाँचनी थी। परीक्षामंत्री सीताराम चतुर्वेदी बनाये गये थे। गणकों में मेरी गणक (tabulator) श्रीमती तेजी बच्चन थी। बिहार के प्रतिनिधि रामवृक्ष वेनीपुरीजी के नेतृत्व में टंडनजी के साथ थे जब कि उत्तर प्रदेश के साहित्यिक दो खेमों में बँट गये थे। एक के प्रमुख कर्णधार थे टंडनजी तथा दूसरे के थे बेढबजी। टंडनजी उस समय अखिल भारतीय कांग्रेस के भी अध्यक्ष थे और देश में कांग्रेस का शासन होने के कारण केवल श्रद्धा-भाजन ही नहीं, शक्ति के प्रतीक भी थे। उनके वरिष्ठ पार्षदों में पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र आदि थे। श्रीनारायणजी राजसेवा के वरिष्ठ अधिकारी होने के कारण या अन्य किसी कारण से सम्मेलन में पहुँचे तो नहीं थे परंतु परीक्षा-बोर्ड का कार्य-संचालन प्रमुख रूप से वही कर रहे थे और जीवन में प्रथम और अंतिम बार अपने प्रिय मित्र बेढबजी के विरोधी बनकर सामने आये थे। परीक्षाबोर्ड के जन्मकाल से ही अपशकुन होने लगे। पहला तो अनुत्तरदायित्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि जिन तिथियों में सम्मेलन का अधिवेशन निश्चित था, वे ही तिथियाँ परीक्षाओं के लिए भी निश्चित कर दी गयीं। यह टकराहट साधारण बात नहीं थी। इसका अर्थ स्पष्टतः यह निकाला जा सकता था कि कोई केंद्रव्यवस्थापक या सम्मेलन-परीक्षाओं का निरीक्षक अधिवेशन में चाहकर भी भाग नहीं ले सकता था। यह परीक्षाबोर्ड के विरोधियों के लिए बहुत बड़ा हथियार था जिसका हम लोगों ने पूर्ण उपयोग भी किया। दूसरा अपशकुन यह था कि कोटा जाते समय, होनेवाली परीक्षाओं

के प्रश्नपत्र प्रतिनिधियों को ट्रेन में इस प्रकार बाँटे गये जैसे वे किसी दवा के विज्ञापन हों। प्रश्नपत्र कैसे आउट हुए और यह कांड कैसे संभव हुआ इसका तो पता नहीं, परंतु इससे परीक्षाबोर्ड के संचालकों की अयोग्यता तो उजागर हो ही गयी। हम लोगों ने अधिवेशन में प्रतिनिधियों को बताया कि परीक्षा-बोर्ड के संचालकों को सम्मेलन से कोई लगाव नहीं है, यह तो उन्होंने अधिवेशन के दिनों को ही परीक्षाओं के लिए निर्धारित करके बता ही दिया था, परंतु परीक्षा-पूर्व ही प्रश्नपत्रों के इस खुले रूप में प्रकट हो जाने से उनकी अयोग्यता भी सामने आ गयी थी। कोटा-यात्रा में ट्रेन में हम लोगों के साथ पं. विद्यानिवास मिश्र, सुधाकर पांडे, प्रभात शास्त्री, दिलीपजी, 'आज' के प्रतिनिधि श्री रामसुंदर सिंह, गोबिंद केजरीवाल, बेधड़कजी, तथा अन्य बहुत-से साहित्यिक थे। ट्रेन यात्रा भी बड़ी आनंदमय थी यद्यपि बहुत से मित्रों के दो दलों में बँट जाने से थोड़ी मानसिक खिन्नता भी थी। बेढबजी के विनोदपूर्ण परिहास यात्रा को उबाऊ नहीं होने देते थे। कभी वे विद्यानिवासजी को भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'विद्याविनाश' का रूप देते, कभी लोगों की हस्तरेखा पढ़कर उनकी जन्मकुंडली बनाने का दावा करते। एक बार जब वे मेरी हथेली देख रहे थे तो बीच में ही रामसुंदरजी ने अपनी काली मोटी हथेली फैला दी और बड़े जोर से कहा, 'बेढबजी, पहले मेरी जन्मकुंडली बताइए।' बेढबजी को उनका यह बीच में कूद पड़ना अच्छा नहीं लगा। उन्होंने रामसुंदरजी की हथेली एक दो मिनट ध्यान से देखते हुए गंभीरता से कहा 'आपके जन्म स्थान में नीच का शुक्र है।' ठाकुर साहब जितने मोटे थे, उनकी बुद्धि भी उतनी ही मोटी थी। वे हथेली फैलाये रहे कि शायद अन्य ग्रहों के विषय में भी कुछ बताया जायगा। द्व्यर्थक 'जन्म-स्थान' और 'शुक्र' शब्दों के अर्थ की बारीकी जैसे-जैसे लोग समझ रहे थे, हँसी के ठहाके लगते जा रहे थे। परंतु ठाकुर साहब बहुत देर बाद ही इस वाक्य की तह तक पहुँच सके। इन्हीं ठाकुर साहब को एक बार और भी, अपने घर पर साहित्य-गोष्ठी में, बेढबजी ने हास्य का आलंबन बनाया था। जब जलपान की तश्तरियाँ लोगों में वितरित हो रही थीं तो ठाकुर साहब ने तश्तरी लौटाते हुए कहा कि आज मेरा उपवास का दिन है। लोग कुछ कहें इसके पूर्व ही बेढबजी ने ठाकुर साहब के काले भयानक रूपरंग की ओर लोगों का ध्यानाकर्षण करते हुए कहा 'आप लोग जानते नहीं, आज रावण का जन्मदिन है।' बेढबजी ने एक बार मुझे भी ट्रेन-यात्रा में ऐसी ही हास्यमय परिस्थिति में डाल दिया था। कराँची हिंदी साहित्य सम्मेलन में जाने के लिए मैं गया से आया था और स्टेशन पर बेढबजी, करुणापतिजी,

बेधड़कजी आदि के साथ हो गया था। हम लोग पंजाब मेल से रवाना हुए थे। मैंने अपनी बनारस तक की टिकट टी. टी. को देकर उसे कराँची तक बढ़ाने को पैसे दे दिये थे और टिकट बना कर देने को अपना डब्बा बता दिया था जहाँ मैं बेढबजी आदि के साथ बैठा था। दूसरा स्टेशन प्रतापगढ़ आते ही टी. टी. टिकट बनाकर और उस डिब्बे में खिड़की के पास आकर मेरा नाम, 'गुलाब खंडेलवाल', 'गुलाब खंडेलवाल' पुकारने लगा। मैं उस समय शौचालय में गया हुआ था। बेढबजी ने कहा 'गुलाब खंडेलवाल अभी तो यहीं बैठे थे.परंतु ज्यों ही आपको आते देखा, शौचालय में घुस गये।' टी. टी. तो मुस्कुरा रहा था परंतु डिब्बे के शेष यात्री तो इसे सच ही मान रहे थे कि मैं बिना टिकट का यात्री होने से टी. टी. के डर से पाखाने में घुस गया हूँ। अपनी स्थिति पर मुझे हँसी के साथ झुँझलाहट भी हो रही थी पर करता क्या, विवश था।

एक अन्य अवसर पर कश्मीर के एक बड़े अधिकारी को, जो बेढबजी से मिलकर गया-भ्रमण करने आ रहे थे, बेढबजी ने मेरे घर का पता दे दिया। उसकी पत्नी कविताएं भी लिखती थी और उसने अपनी एक प्रकाशित कविता-पुस्तक मुझे दी भी थी। मैंने दो दिनों तक उन दोनों की आवाभगत की तथा उन्हें बुद्धगया आदि दर्शनीय स्थानों का भ्रमण कराया। कश्मीर पहुँचकर कवि के नाते कवयित्री महोदया ने मुझे अंत्यंत सुंदर धन्यवाद का पत्र तो भेजा ही, एक केसर से भरा हुआ डब्बा भी उपहार-स्वरूप भेजा। कुछ दिनों के बाद जब मैं बनारस गया तो बेढबजी को मैंने बताया कि कश्मीर से आनेवाली उस कवयित्री ने मुझे केसर से भरा हुआ डब्बा उपहार में भेजा है। बेढबजी ने गंभीरता से कहा 'तुमने ठीक से देख लिया था न, वह केसर ही था न!'

ऐसे थे बेढबजी के चुटकुले और उनके परिहास जो किसीको भी नहीं बख्शते थे। कोटा साहित्य सम्मेलन में आवास और भोजन का अत्यंत सुंदर प्रबंध होने पर भी न तो नल के जल की धारा काशी के नलों जैसी हो सकती थी, न बनारस की मोयनभरी मुलायम कचौड़ियों जैसी कचौड़ियाँ ही वहाँ मिल सकती थीं। बेढबजी के व्यंग्यवाणों से ये चीजें कैसे बच सकती थीं। उन्होंने अपनी कोटा-यात्रा के संस्मरण में लिखा था कि स्नान के समय नल से पानी की धारा उसी तरह गिरती थी जैसे अंटी में से तागा खींचा जा रहा हो। कचौड़ियों की उपमा उन्होंने उन दिनों नयी-नयी चली हवाई चप्पलों के तल्लों से दी जिनको कितना भी दाँत गड़ाकर खींचा जाय, तोड़ना संभव नहीं था।

कोटा हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रथम दिन से ही परीक्षाबोर्ड के विरोध में हम लोगों ने घूम-घूमकर प्रतिनिधियों को अपने पक्ष में फोड़ना प्रारंभ कर दिया। काम साधारण नहीं था। परीक्षाबोर्ड का निर्माण हो चुका था और वह कार्यरत भी हो चुका था। उसके अंतर्गत परीक्षाओं की तिथि की घोषणा भी हो चुकी थी और एक प्रकार से वह fate-Accomply अर्थात् पूर्णतः कार्यान्वित हो चुका था, उस पर केवल स्वीकृति की मोहर लगनी थी। यह औपचारिकता का निर्वाह मात्र था। इसी बीच एक दिन चंबल नदी के पार, किसी स्थान पर प्रतिनिधियों के भ्रमण और गोष्ठी का भी आयोजन था। पंजाब से आये एक लंबी दाढ़ीवाले सुप्रसिद्ध साहित्यकार और लेखक की दृष्टि एक उच्च घराने की सुंदर महिला पर लगी थी। वह महिला ग्रामगीतों के संबंध में उनके कार्य की प्रशंसिका थी। इसी कमंद के सहारे वे उसकी अधिक निकटता पाना चाहते थे। उनका यह प्रयास इतना प्रत्यक्ष और भौंड़ा था कि बेनीपुरीजी ने उन पर सीधा व्यंग्य कसना शुरु कर दिया और पूछा कि क्या आपके अगले गीत-संग्रह का नाम **चंबल-तीरे** होगा। अंत में उस भद्र महिला की कठोर फटकार के बाद ही वे अपनी दाढ़ी फटकारते हुए हम लोगों की तरफ मुखातिब हुए थे। मुझे एक शेर बारबार याद आ रहा था—

फितने हैं लाख शेख की दाढ़ी की झाड़ में
करते है वे शिकार अब टट्टी की आड़ में

तो इस विषयांतर के पश्चात, मैं सम्मेलन के मुख्य संघर्ष-बिंदु 'परीक्षाबोर्ड' के प्रश्न पर आता हूँ। हम सभी लोग अलग-अलग दलों में बँटकर दूर-दूर प्रदेशों से आये प्रतिनिधियों के बीच परीक्षाबोर्ड के संबंध में किये गये कार्य-समिति के निर्णय के विरुद्ध प्रचार कर रहे थे। टंडनजी ने परीक्षाबोर्ड के प्रश्न को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था, इसलिए हमारी स्थिति बड़ी विषम थी। फिर भी तर्क हमारे पक्ष में था। यह सम्मेलन के जीवन-मरण का प्रश्न था और हम पूर्ववर्णित सभी आपत्तियों का प्रयोग अपने प्रचार में कर रहे थे। इस संबंध में प्रभात शास्त्री सेना के कप्तान का पद सँभाले हुए थे तथा उनके दाहिने हाथ थे श्री सुधाकर पांडे। एक सुविधा यह थी कि कालेज के बंद रहने के कारण सभी प्रतिनिधि एक विशाल होस्टल में एक ही जगह पर ठहराये गये थे, अतः प्रचार का कार्य एक ही भवन में घूमघूमकर करना था। बिहार के सभी प्रतिनिधि रामवृक्ष वेनीपुरी के नेतृत्व में टंडनजी के साथ थे। उनसे कुछ भी कहना व्यर्थ था। वे तो उल्टे मुझे ही बहिष्कार की धमकी दे रहे थे कि बिहार के गया नगर का निवासी होने के बावजूद भी मैं काशी की मंडली का साथ दे रहा था। उत्तर

में मैं उन्हें कह देता था कि मैं क्या किसी स्कूल का शिक्षक या कोई सरकारी कर्मचारी हूँ जो आपकी बहिष्कार की धमकी से डर जाऊँ। जहाँ तक मेरी कविता का प्रश्न है, मैं प्रारंभ से ही देश, जाति और वर्ग की या किसी वाद की प्रशंसा की अपेक्षा नहीं रखता। मैं तुलसीदासजी का यह दोहा उन्हें सुना देता था जिसे मैं कविता की श्रेष्ठता का मूलमंत्र मानता था—

सरल कवित, कीरति विमल, तेहि आदरहिं सुजान
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान।

हम लोगों का सारा जोर राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि के प्रतिनिधियों पर अवलंबित था क्योंकि उत्तर प्रदेश के अधिकांश प्रतिनिधि स्पष्ट रूप से दो दलों में विभक्त थे। उनसे कुछ भी कहना व्यर्थ था। दूसरे दिन के खुले अधिवेशन में संध्या समय प्रस्ताव आना था। एक विषम परिस्थिति हम लोगों के सामने यह थी कि टंडनजी और कन्हैयालाल मिश्र का विरोध करने के लिए हम लोगों के एक मात्र नेता बेढबजी ही मंच पर थे। परीक्षाबोर्ड की उपसमिति के निर्णय पर सदस्य के नाते हस्ताक्षर करके वे अपनी स्वीकृति की मुहर लगा चुके थे। कुशल प्रवक्ता के नाते कन्हैयालाल मिश्र इस कागज को प्रस्तुत करके उन्हें विरोध करने से रोक दे सकते थे और कोई वरिष्ठ प्रवक्ता मंच पर हमारी ओर से न रहने पर टंडनजी, कन्हैयालाल मिश्र और बेनीपुरीजी की जोरदार तकरीरें हमारे किये-कराये पर पानी फेर दे सकती थीं। अंत में इस आपत्ति को दूर करने का उपाय निकाला गया। जिस होस्टल में हम लोग अलग-अलग कमरों में ठहरे थे उसमें कमरों को अलग करनेवाली दीवाल छत से नहीं सटी थी। अर्थात् कोई व्यक्ति चाहता तो एक ऊँची टेबुल पर चढ़कर एक कमरे से दूसरे कमरे में कूद जा सकता था। कन्हैयालाल मिश्र का कमरा हमारे बगल में ही था और उनके कमरे से सटे हुए कमरों में दोनों ओर हमारे दल के प्रतिनिधि ही ठहरे थे। उपयुक्त समय देखकर, जब मिश्रजी अपने कमरे का ताला बंद करके कहीं गये थे, बगल के कमरे के प्रतिनिधि ने संभवतः उनके कक्ष में छलाँग लगाकर या अन्य किसी युक्ति से उनकी अचकन के अंदर की पाकिट से वह कागज हस्तगत कर लिया जिस पर अन्य दोनों सदस्यों के साथ बेढबजी के भी हस्ताक्षर थे। उस कागज को पाने के बाद हम सभी निश्चिंत हो गये और पूरी ताकत से अपने प्रचार में लग गये। हम लोगों ने परीक्षा-बोर्ड वाले प्रस्ताव के प्रस्तावक के नाते कन्हैयालाल मिश्र पर एक व्यक्तिगत आक्षेप भी

लाद दिया ताकि मंच पर उनकी वक्तृता का असर समाप्त हो जाय। किसीने यह शिगूफा उड़ा दिया कि मिश्रजी को ऐडवोकेट जनरल से उठाकर हाइकोर्ट का जज बनाने का प्रलोभन टंडनजी द्वारा दे दिया गया है इसलिए वे सम्मेलन की हत्या की कीमत पर परीक्षाबोर्ड बनाने को तुले हुए हैं। जो प्रश्नपत्र ट्रेन में मिले थे वे भी सभी प्रतिनिधियों तक, परीक्षाबोर्ड की कार्यप्रणाली की अक्षमता के प्रमाण-स्वरूप, पहुँचा दिये गये। यह भी उन्हें बताया गया कि जिन दिनों सम्मेलन हो रहा है उन्हीं दिनों परीक्षाएं रखकर अभी से जब परीक्षाबोर्ड सम्मेलन की इस प्रकार उपेक्षा कर रहा है तो आगे उससे किस भलाई की आशा की जा सकती हैं। प्रकाशक, परीक्षक और केंद्र-व्यवस्थापकों की सहानुभूति तो अपने निजी स्वार्थ के कारण हमारे पक्ष में थी ही, इसलिए टंडनजी के व्यक्तित्व के विरुद्ध भी हमें अपना पलड़ा भारी दिखाई देने लगा था।

दूसरे दिन संध्या समय कन्हैयालाल मिश्र ने परीक्षाबोर्ड बनाने के प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान करने के प्रस्ताव पर जोरदार भाषण दिया। रामवृक्ष बेनीपुरीजी तथा बिहार के अन्य सदस्यों ने उनका समर्थन किया। बेढबजी ने ज्यों ही उठकर विरोध में बोलना प्रारंभ किया कि कन्हैयालाल मिश्र ने, जैसी आशंका थी, ललकारा, 'आप नहीं बोल सकते हैं। आप उपसमिति के सदस्य के नाते उसकी सहमति में हस्ताक्षर कर चुके हैं।' बेढबजी ने कहा, 'कहाँ है वह उपसमिति की रिपोर्ट और कहाँ है मेरा हस्ताक्षर! असल में तो वैधानिक रूप से उपसमिति ने प्रस्ताव पास ही नहीं किया है, केवल अनौपचारिक चर्चा होकर रह गयी है। यदि समिति का पास किया हुआ प्रस्ताव और उस पर मेरा हस्ताक्षर हो तो दिखायें।' कन्हैयालाल मिश्र ने अपनी अचकन के अंदर की पाकिट में हाथ डाला परंतु वहाँ प्रस्ताव होता तो मिलता। उन्होंने एक-एककर सभी पाकिटें, अनेक बार टटोल डालीं। अंत में उन्होंने मंच पर ही अपनी अचकन उतारकर कमीज तथा बंडी की पाकिट भी छान डाली। उनके माथे पर दिसंबर की रात में भी पसीने की बूँदें चमकने लगीं। बेढबजी माइक पकड़े चुपचाप खड़े रहे। अंत में मिश्रजी ने कहा कि हो सकता है कागज मेरे कमरे में टेबुल पर या बक्सा में छूट गया है। मैं अभी ले आता हूँ। बेढबजी ने कहा, 'शौक से जाइए, तब तक सभा का समय नष्ट न करके मैं अपना भाषण आगे बढ़ाता हूँ।' बेढबजी ने अत्यंत तर्कपूर्ण ढंग से परीक्षाबोर्ड के निर्माण के पीछे टंडनजी की भावना का आदर करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि यदि परीक्षाबोर्ड का निर्माण

स्वीकृत कर लिया गया तो सम्मेलन की अंत्येष्टि भी करने का निश्चय ले लेना चाहिए।' थोड़ी देर में कन्हैयालाल मिश्र मुँह लटकाये वापस लौट कर अपने स्थान पर बैठ गये। उन्होंने दुबारा उपसमिति की चर्चा ही नहीं की। अंत में कोटा सम्मेलन के अध्यक्ष चंद्रबली पांडे ने इस आपसी विरोध पर आँसू बहाते हुए प्रस्ताव पर मत-गणना लेनी प्रारंभ की। 400 प्रतिनिधियों में प्रायः 20 प्रतिशत मत प्रस्ताव के पक्ष में आये और 80 प्रतिशत प्रतिनिधियों ने परीक्षा-बोर्ड बनाने के निर्णय के विरुद्ध मत दिया। इस प्रकार परीक्षाबोर्ड कुछ महीनों तक अस्तित्व में रहकर समाप्त हो गया। टंडनजी उसी रात को जयपुर चले गये जहाँ उनके एक अन्य समर्थक हीरालाल शास्त्री, जो राजस्थान के मुख्यमंत्री थे, संकट में थे।

कोटा हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से दो महिलाओं, श्रीमती राधादेवी गोयनका तथा श्रीमती कंचनलता सब्बरवाल, को ग्यारह-ग्यारह सौ रुपये के पुरस्कार दिये गये थे। हम लोगों की मंडली के सदस्य गोविंद केजरीवाल ने श्रीमती गोयनका की राशि तो सम्मेलन के लिए सहायता के रूप में झटक ली पर कंचनलता सब्बरवाल के आगे उनकी दाल न गली।

लाल किले का गणतंत्र दिवस का कवि सम्मेलन

कोटा-सम्मेलन के बाद साहित्य सम्मेलन का कोई वार्षिक अधिवेशन न हो सका। अन्य बड़े साहित्यिक महत्त्व के आयोजनों में, जिनमें मैं भाग लेने का अवसर पा सका, उनमें से एक है स्वतंत्रता-दिवस पर दिल्ली के लाल किले में होनेवाला अखिल भारतीय कविसम्मेलन जिसमें लाख से ऊपर जनता जुटती है। 1967 में पहली बार उसमें आमंत्रित होकर मैंने कविता-पाठ किया। उस कविसम्मेलन में शायद ही कोई कवि जम पाता था। गाकर पढ़नेवाले तो दो-तीन पंक्तियाँ गाने के बाद ही हूट कर दिये जाते थे। बड़े-बड़े मंचकुशल कवियों का भी पसीना छूट जाता था। उस कवि-सम्मेलन में एक अखिल भारतीय ख्याति के मंचीय कवि अपने साथ एक सुंदर गायिका को कवयित्री के रूप में प्रस्तुत करने को लाये थे परंतु जनता ने उसको भी, उसके रूप और मधुर स्वरों के बावजूद, हूट कर दिया। उन कवि महोदय को भी हूट कर दिया गया जो मेरी समझ में सदा मंच पर अपना जादू करनेवाले कविवर के लिए भी पहला ही ऐसा अवसर रहा होगा। मैं बहुत चौकन्ना था और मैंने अपनी बारी में एक सामयिक वीररस की रचना पढ़ी जिसकी कुछ पंक्तियाँ थीं—

पूरब पश्चिम दोनों दिशि से उमड़ रही है आग
घर में आगल लगा शांति से सोनेवाले जाग

सिर देकर ही स्वतंत्रता का मूल्य चुकाना पड़ता
तलवारों पर चढ़कर ही इस घर में आना पड़ता
पल-भर सोये जहाँ वहीं इतिहास पुराना पड़ता
एक चूक के लिए पीढ़ियों तक पछताना पड़ता
लाख आँसुओं से न धुलेगा फिर धरती का दाग

चूँकि चीन और पाकिस्तान दोनों उस समय भारत पर दोनों ओर से विष-वमन कर रहे थे इसलिए मेरी कविता ने धूम मचा दी जब कि बड़े-बड़े मंचीय कवि निराश हो-होकर बैठ रहे थे।

बेढबजी द्वारा किये गये 1962 के काशी के कवि-सम्मेलन में भी, पूर्ववर्णित वही मंचीय कवि काशी की एक गायिका को लाकर उसे कवयित्री बनाने का उपक्रम कर रहे थे परंतु वहाँ भी उन्हें मुँह की खानी पड़ी थी। दूसरे दिन काशी के पुलिस सुपरिटेंडेंट ने मेरी उपस्थिति में बेढबजी के संमुख सारा भेद खोला क्योंकि वे ही अपनी कार से उक्त कविवर को कवि-सम्मेलन में ले गये थे और उस महिला, जो काशी की एक गणिका थी, की भी जानकारी उन्हें थी।

कुमारसभा पुस्तकालय कलकत्ता में काव्य-पाठ

जैसे बेढबजी से बनारस के एक कवि-सम्मेलन में 1939 में मेरी भेंट हुई थी जिससे मैं काशी के और उसके बाद सारे भारत के साहित्यिक समाज में प्रवेश पा सका था उसी प्रकार 1948 ई. में कलकत्ता में कुमारसभा पुस्तकालय के द्वारा उसके प्रधानमंत्री नथमलजी केड़िया के संपर्क में मैं आया जिससे कलकत्ता के साहित्यिक एवं सामाजिक जीवन में भागीदार बन सका। कोलकाता में उस समय श्री सीतारामजी सेकसरिया, श्री भागीरथजी कानोडिया, श्री रामकुमारजी भुवालका तथा श्री रामेश्वरजी टाँटिया का कलकत्ता के मारवाड़ी समाज में उनकी लोकसेवा के नाते विशेष सम्मान था। यह मेरा सौभाग्य था कि मैं उन सभी का स्नेहभाजन बन सका। नथमलजी के फुफेरे भाई पुरुषोत्तमजी केजरीवाल से भी इसके बाद मेरी घनिष्टता हो गयी। केजरीवालजी उम्र में नथमलजी से बड़े होते हुए भी युवकोचित उत्साह से उनके प्रत्येक कार्य में हाथ बँटाते थे। मारवाड़ी समाज की प्रमुख संस्था मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी में भी उपर्युक्त सभी आप्तजनों का बोलबाला था। जिस कुमारसभा पुस्तकालय में नथमलजी से परिचय हुआ था उसमें बिहार के कवि रामदयाल पांडे का भी कवितापाठ रखा गया था। रामदयाल पांडे तो केवल उस आयोजन के कवि

बनकर रह गये पर मैंने तो सदा के लिए नथमलजी के हृदय में स्थान पा लिया और उनके साहचर्य से उपर्युक्त गुरुजनों के अतिरिक्त श्री राधेश्यामजी सराफ, श्री संपतकुमार दूगड़, श्री नरनारायणजी हरलालका, श्री वासुदेवजी पोद्दार, श्री केशवजी कायाँ, श्री भँवरलालजी दवे, श्रीमती आशा देवी मिश्रा, श्रीमती उषा केजरीवाल, श्री रामकृष्ण सरावगी, श्री पुरुषोत्तमजी धानुका, आदि अन्य कितने ही समवयस्कों की मित्रमंडली का अभिन्न अंग बन गया। कोलकाता के जिन श्रद्धास्पद आप्त पुरुषों का मुझे आशीर्वाद मिला एवं जो समवयस्क उपर्युक्त स्नेही मित्रगण पारिजात की माला के समान मेरे मन-प्राण पुलकित करते रहे हैं, उनमें सूत्र रूप से नथमलजी सदा उपस्थित रहे हैं। नथमलजी गहन संवेदनात्मक रचनाओं के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य-प्रधान रचनाएँ भी लिखते हैं। वे मेरे इतने अभिन्न हैं कि एक हास्य-कविसम्मेलन का सभापतित्व करते समय कुछ न सूझने पर मैंने उनकी एक हास्य-रचना अपनी करके सुनाने में भी संकोच नहीं किया।

नथमलजी ने 1952 में **अर्चना** नाम की साहित्यिक संस्था का गठन किया जिसका उद्देश्य हिंदी साहित्य का प्रचार-प्रसार करना था। इस संस्था द्वारा सुंदर साहित्यिक कृतियों के प्रकाशन की भी योजना बनी और पहली कृति के रूप में मेरे **उषा** महाकाव्य का प्रकाशन बड़ी साज-सज्जा के साथ किया गया। **अर्चना** की गोष्ठियाँ तो समय-समय पर होती ही रहती थीं, आगे चलकर उसके द्वारा प्रति मास कविता-पाठ का भी आयोजन होने लगा जो आज तक नियमित चल रहा है। **अर्चना** द्वारा प्रतिवर्ष किसी सृजनधर्मा साहित्यिक को इक्कीस हजार के पुरस्कार देने की योजना भी बनी जो हिंदी के किसी ऐसे सृजनधर्मी साहित्यकार को दिया जाता था जो आर्थिक दृष्टि से बहुत संपन्न न हो अथवा जिसके कार्यकलाप और प्रकाशन में उक्त निधि सहायक हो सके। प्रारंभ में इस पुरस्कार की निधि रामेश्वरजी टाँटिया के सुपुत्र श्री नंदलालजी टाँटिया द्वारा उपलब्ध करायी जाती थी। इस पुरस्कार-योजना के अंतर्गत प्रारंभ में श्री विश्वनाथ मुकर्जी को यह पुरस्कार दिया गया। बाद में श्री बशीर अहमद 'मयूख तथा श्री नंदकुमार अवस्थी को रामेश्वर टाँटिया पुरस्कार के नाम से दिया गया। उसके बाद समय-समय पर **अर्चना** की ओर से ही कम-वेश रूप में दिया जाता रहा है। '**अर्चना** का अध्यक्ष होने के नाते सम्मान-महोत्सव का आयोजन करने या उसकी राशि एकत्र करने में, जो अब टाँटिया न्यास की ओर से न होकर,

अर्चना की ओर से सीधी दी जाती है, मुझे भी विशेष गौरव मिल जाता है। परंतु हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष की कुर्सी पर उसके प्रधानमंत्री और कर्ताधर्ता श्रीधर शास्त्रीजी ने जिस प्रकार पिछले 14-15 वर्षों से मुझे बिठा रक्खा है, उसी प्रकार नथमलजी ने भी मुझे प्रारंभ से ही **अर्चना** की अध्यक्षता का सम्मान दे रक्खा है यद्यपि मैं इस संस्था के लिए भी अपनी ओर से कुछ भी सहयोग नहीं कर पाता हूँ। इससे मेरी यह धारणा बन गयी है कि अध्यक्ष का पद केवल आलंकारिक है; कम से कम विशुद्ध साहित्यसेवी संस्थाओं में। ऐसा व्यक्ति ही इसमें उपयुक्त समझा जाता है जो किसी प्रकार से भी अपने को उस संस्था पर थोपने का प्रयत्न नहीं करे और केवल साक्षी बना रहे।

उषा के बाद मेरी काव्यकृतियाँ **रूप की धूप, अहल्या, सौ गुलाब खिले,** आदि का प्रकाशन भी **अर्चना** द्वारा ही किया गया। नथमलजी और उनके विक्टोरिया मैदान के मित्रों ने मिलकर कोलकाता में जो हिंदी माध्यम के बालक-बालिकाओं के शिक्षालय **ज्ञानभारती** की स्थापना की थी, वह भी हिंदी के प्रचार-प्रसार के कार्य में प्रगति देता रहा था और एक विराट् संस्था का रूप धारण कर चुका था। नथमलजी के कारण मेरा उससे और उसके सभी निर्माताओं और प्रबंधकों से भी निरंतर संपर्क रहने लगा।

पुरस्कार को नियमित रूप से देने का भी सूत्रपात **अर्चना** के एक आयोजन में अकस्मात हो गया था। नथमलजी की प्रारंभ से ही श्रेष्ठ साहित्यकारों को सम्मानित् करने की प्रवृत्ति रही है। यदि हिंदी की कोई श्रेष्ठ कृति प्रकाशन की सुविधा के अभाव में छिपी रहे या कोई साहित्यकार आर्थिक अभावों से जूझता रहे तो उन्हें यह सहन नहीं होता है। इसी प्रवृत्ति के कारण काशी के साहित्य-साधक श्री विश्वनाथ मुखर्जी को इक्कीस हजार रुपयों का पुरस्कार **अर्चना** की ओर से देते समय प्रति वर्ष साहित्यिक-सर्जना के लिए 21 हजार का पुरस्कार अर्चना की ओर से देने की घोषणा उन्होंने उसी समय सभा में कर दी। इसके पहले भी **अर्चना** की ओर से साहित्यकारों की छिटपुट आर्थिक सहायता की जाती थी परंतु तब से **अर्चना** का कार्य नियमित हो गया और किसी-न-किसी रूप में अब भी चालू है। सन् 2005 में अर्चना की स्वर्णजयंती बड़ी धूमधाम से मनायी गयी और एक सुंदर स्मारिका भी प्रकाशित की गयी।

दिल्ली में भारत की 14 भाषाओं के लिए एक भवन का शिलान्यास

1962-63 की बात है। मैं अपने एक मुकदमे की सुप्रीम कोर्ट में अपील करने के सिलसिले में दिल्ली आया था। मुकदमे की अपील का काम निपटाकर मैंने बच्चनजी को फोन किया और अपने दिल्ली आने की सूचना देकर उनसे मिलने का समय माँगा। वे मेरी आवाज सुनते ही प्रसन्न होकर बोले, 'बड़ा अच्छा हुआ, गुलाबजी, आप दिल्ली में हैं। आप बड़े अच्छे मौके से आये हैं। आज संध्या समय भारत की चौदह भाषाओं के लिए एक विशाल भवन का शिलान्यास प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरूजी के कर-कमलों से होगा। आपको उसमें उपस्थित ही नहीं रहना है, कविता भी पढ़नी है। उसमें भारत की चौदहों भाषाओं की ओर से प्रत्येक भाषा का एक प्रतिनिधि कवि अपनी कविता का पाठ करेगा। आपको हिंदी का प्रतिनिधित्व करना है। इस भवन के लिए ग्वालियर के पूर्व महाराजा ने 14 कट्ठा भूमि का दान दिया है।' मैंने पूछा कि मैं सभास्थल पर कैसे पहुचूँगा और वहाँ प्रवेश कैसे पाऊँगा तो बच्चनजी ने कहा, 'उसकी चिंता आप मत करें। जहाँ आप ठहरे हैं वहाँ से श्री अवनींद्र कुमार विद्यालंकार आप को सभा में ले आयेंगे।' अवनीद्रंकुमारजी के नाम से मैं परिचित था क्योंकि साप्ताहिक हिंदुस्तान तथा अन्य पत्रों में उनके विद्वत्तापूवर्ण लेख निकलते रहते थे। संध्या समय आयोजन होने के पूर्व ही मैं अवनींद्र कुमारजी के साथ सभास्थल में पहुँच गया। उक्त आयोजन के मंत्री बच्चनजी तथा अध्यक्ष मैथिलीशरणजी गुप्त थे। बच्चनजी ने मुझे देखते ही गले से लगा लिया। उनकी बगल में खड़े मैथिलीशरणजी के चरण-स्पर्श का मैंने बहुत प्रयत्न किया परंतु उन्होंने मुझे वह सौभाग्य नहीं पाने दिया। मेरा अभिवादन ही स्वीकार किया और प्रेमपूर्वक मेरा समाचार पूछने लगे। बच्चनजी ने कहा, 'गुप्तजी, देखिए, गुलाब को हमने कितनी छोटी उम्र में देखा था, अब ये कितने बड़े हो गये हैं।' गुप्तजी ने हँसकर कहा, 'भाई, ये कितने भी बड़े हो जायँ, चिर-तरुण ही रहेंगे।' यह कहकर गुप्तजी ने बच्चनजी और अपने बीच मुझे सोफे पर बैठा लिया। लोग धीरे-धीरे पहुँच रहे थे। थोड़ी देर में दिनकरजी आये। मैं एक सप्ताह पूर्व पटना में दिनकरजी के घर पर शंकरदयाल सिंह के साथ चायपान करने गया था और प्रायः दो घंटे उनके साथ रहा था। अपने प्रदेश के प्रिय कवि को देखकर मैं बड़े प्रेम से खड़ा हो गया और मैंने उनका अभिवादन किया, परंतु वे कुछ उखड़े-उखड़े से मुझे दिखाई दिये और बिना कुछ कहे आगे बढ़ गये। दिनकरजी के

अतिरिक्त दिल्ली के अन्य प्रमुख साहित्यकारों के बीच अज्ञेयजी भी अगली कतार में बैठे थे।

नेहरूजी ठीक समय पर आये। उस समय तक सारा पंडाल लोकसभा एवं राज्यसभा के सदस्यों से तथा अन्य प्रख्यात व्यक्तियों से भर गया था। मैथ़िलीशरणजी ने उठकर अपना अध्यक्षीय भाषण पढ़ना आरंभ किया। भाषण में एक स्थान पर 'राष्ट्रभाषा हिंदी' शब्द का उल्लेख था। परंतु 'राष्ट्रभाषा हिंदी' शब्द ज्यों ही उनके मुँह से निकला त्योंही नेहरूजी उठने का प्रयत्न करने लगे। उनके निजी सचिव ने काँख में हाथ डालकर उन्हें उठाया। उन्होंने खड़े होकर माइक मैथिलीशरणजी के हाथ से छीन लिया और बड़े तैश में बोले —

'कौन कहता है कि हिंदी राष्ट्रभाषा है। यह बिल्कुल वाहियात बात है। हिंदी राष्ट्रभाषा नहीं है, यह मात्र संपर्क भाषा है।' वे इसी रौ में आगे भी बोलते गये और इस बीच मैंने देखा, गुप्तजी खड़े-खड़े काँप रहे थे। वे शायद समझ रहे थे कि उनसे कोई बड़ा भारी अपराध हो गया है। इस घटना के बाद, गुप्तजी ने अपना वक्तव्य तुरत समाप्त कर दिया और बच्चनजी ने प्रत्येक भाषा की ओर से उस भाषा के एक कवि से कविता-पाठ कराना प्रारंभ किया। मुझे हिंदी की ओर से काव्यपाठ करना था। मैं उन दिनों हिंदी में चतुष्पदियों का प्रयोग कर रहा था। मैंने उन्हींमें से कुछ चतुष्पदियाँ सुनायीं। मेरी प्रत्येक चतुष्पदी पर तालियों की गड़गड़ाहट सुनकर मैंने समझा कि मेरा काव्यपाठ सफल रहा। अन्य भाषा के कवियों का कवितापाठ तो एक औपचारिकता थी क्योंकि उनको समझनेवालों की संख्या बहुत कम थी। वहाँ नब्बे प्रतिशत जनता तो हिंदी की कविता ही समझती थी इसलिए भी ऊबी हुई जनता ने अकेला हिंदी कवि होने के कारण मेरे काव्यपाठ पर बड़े उत्साह से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उसके बाद बच्चनजी ने आयोजन की सफलता के लिए दिनकरजी से भी कवितापाठ करने का अनुरोध किया। मैं बता चुका हूँ कि दिनकरजी कुछ उखड़े-उखड़े-से थे। उन्होंने एक कविता सुनानी प्रारंभ की जो छंदमुक्त शैली में थी। तीन-चार पंक्तियाँ सुनाकर अवाक् जन-समूह को देखकर उन्होंने कहा, 'अच्छा, दूसरी कविता सुनाता हूँ।' उन्होंने दिल्ली नगर पर अपनी नयी लिखी हुई रचना सुनानी प्रारंभ की जो व्यंग्य-प्रधान थी। कारण कुछ भी हो, वे बीच में ही कविता समाप्त करके बैठ गये। उस आयोजन में दिनकरजी या अज्ञेयजी आदि प्रतिष्ठित कवियों में से ही कोई भी, अथवा बच्चनजी या मैथिलीशरणजी स्वयं ही हिंदी का प्रतिनिधित्व कर सकते

थे, फिर क्या कारण था कि बच्चनजी ने मुझे ही यह सम्मान दिया! मैं तो इसका कारण अपने प्रति उनका विशेष स्नेहभाव ही मानता हूँ।

इस काव्यपाठ का एक रोचक प्रसंग यह भी है कि मेरे गया लौट आने पर मेरे घर की नौकरानी ने कहा कि बाबू को मैंने फिल्म के पर्दे पर देखा है। मैंने उसे झिड़क दिया परंतु वह जिद करने लगी तो कुतूहलवश मैं भी उसके बताये सिनेमा हॉल में गया। वहाँ पब्लिसिटी विभाग की ओर से दिल्ली के कवि-सम्मेलन की न्यूजरील दिखाई गयी थी जिसमें नेहरूजी को शिलान्यास करते और मुझे कविता पढ़ते दिखाया गया था। और किसी कवि को उसमें छुआ भी नहीं गया था। शायद मेरे काव्यपाठ पर तालियों की गड़गड़ाहट से नेहरूजी के बाद काव्यपाठ करते मुझे ही दिखाना उपयुक्त समझा गया था।

हैदराबाद का अ0 भा0 हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन

1976-77 में मुझे हैदराबाद में होनेवाले अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन में सम्मिलित होने का अवसर मिला। उस समय तक प्रभात शास्त्री और श्रीधर शास्त्री के बीच दो धड़ो के रूप में सम्मेलन का विवाद नहीं प्रारंभ हुआ था। मुझ पर प्रभातजी और श्रीधरजी का समान प्रेमभाव था। हैदराबाद का अधिवेशन बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ। वहाँ मुझे कितने ही सम्मान्य और अपने-अपने क्षेत्र के शीर्ष पुरुषों का सौहार्द् प्राप्त हो गया जो प्रायः इस प्रकार के आयोजनों की उपलब्धि होता है। मैं होटल के जिस कमरे में ठहरा था उसमें मेरे साथ नरेश मेहता भी ठहराये गये थे। उन्हें उनकी काव्य-कृतियों के लिए भविष्य में ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलनेवाला था। आँध्र की राज्यपाल एक बंग महिला थीं। उन्होंने सम्मेलन का उद्घाटन किया। उस अधिवेशन में सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री भगवान दास माहौर मेरे अभिन्न मित्र बन गये और उन्हें, सुप्रसिद्ध उपन्यासकार वृंदावनलाल वर्मा के सुपुत्र रामजीवन वर्मा तथा मैथिलीशरण जी गुप्त के भतीजे श्री सुमित्रानंदन को मैंने केरल में अपनी पुत्री प्रतिभा के यहाँ, दक्षिण भ्रमण कराने के उद्देश्य से, अपने साथ ले जाने का कार्यक्रम बना लिया और इसके लिए अधिवेशन की समाप्ति के दूसरे दिन ट्रेन में आरक्षण करा लिया। सम्मेलन के अंतिम दिन की रात में कवि-सम्मेलन था। मैं जहाँ बैठा था वहीं मेरी बगल में आँध्र के श्रेष्ठ कवि एवं आलोचक श्री शेषेंद्र शर्मा तथा उनकी विदुषी पत्नी इंदिरा धनराजगिरि बैठी थी। मैं अपनी ग़ज़लों की प्रथम पुस्तक **सौ गुलाब खिले** में से एक-दो ग़ज़लें सुनाकर अपने स्थान पर लौटा ही था कि

इंदिराजी ने पुस्तक मेरे हाथ से ले ली और अंग्रेजी में कहा - 'I was dying to get this book' मैंने पुस्तक सहर्ष उन्हें भेंट कर दी। उन्होंने दूसरे दिन मुझे अपनी कोठी में आकर एक विशेष गोष्ठी में कविता-पाठ करने का आमंत्रण दिया। मेरे बाद शेषेंद्र शर्माजी ने कवि-सम्मेलन में अपनी एक आंध्रभाषा में लिखी कविता का हिंदी अनुवाद पढ़ा जिसमें एक वाक्य था 'कालिदास, जिसने सभी देवताओं एवं अप्सराओं को अपनी कविताओं में कैद कर रक्खा है।' इसको सुनते ही, एक प्रतिनिधि ने उठकर कहा कि यह हमारे देवताओं का अपमान है। शेषेंद्रजी ने कविता बीच में रोक दी और अंग्रेजी में यह कहते हुए, 'If this is the mental stature of Hindi people, I dont see any bright future for Hindi', आगे कविता पढ़ना स्थगित कर दिया और वे मेरे बगल में आकर बैठ गये। उनकी पत्नी इंदिराजी का सुंदर मुँह भी क्रोध से लाल हो गया। मैंने शेषेंद्रजी से कहा - Please don't take the wood for the tree। ऐसे मूर्खों को आप हिंदीवाले मत समझिए। मेरे वचनों से इंदिराजी थोड़ी प्रसन्न दिखीं। सम्मेलन के दूसरे दिन मैं तो संध्या तक सर्वथा मुक्त ही था इसलिए तय हुआ कि मैं दिन का भोजन भी इंदिराजी के यहाँ ही करूँ और पूरा समय उन्हींके आयोजन के लिए अपने को स्वतंत्र रक्खूँ और वहीं से सीधा अलेप्पी के लिए अपनी ट्रेन पकड़ लूँ। दूसरे दिन सबेरे कविवर अंचलजी को राजकुमारी इंदिरा धनराजगिरि की कोठी में होनेवाले आयोजन का पता चल गया और वे भी उसमें चलने को मेरे साथ हो लिये। नरेश मेहता को तो, जो मेरे साथ ठहरे थे, मैं छोड़ ही नहीं सकता था यद्यपि उन्होंने बिना आमंत्रण के जाने में संकोच किया परंतु मैंने यह कहकर कि इंदिराजी को, कौन-कौन कवि कहाँ ठहरे हैं, इसका कैसे पता हो सकता है कि वे इतनी जल्दी में आपको आमंत्रित कर सकें, उनका समाधान कर दिया। इंदिराजी के आवास पर हम लोगों की भोजन-समाप्ति के बाद आगत सज्जनों का ताँता लग गया। फल और मिठाइयों का तो ढेर था ही, चाय के स्थान पर शैंपेन की बोतलें खुल रही थीं। आयोजन में उर्दू के ही अधिकांश शायर थे जो मेरी ग़ज़लों को सुनने को इच्छुक थे। उपस्थिति 40-50 से कम नहीं होगी। जब शराब का प्याला मेरी ओर आया तो मैंने इंदिराजी से कहा कि मैं तो इसे छूता भी नहीं हूँ। इस पर वे बोलीं, 'आपके स्वागत के इस आयोजन में मेरे 40 हजार से ऊपर केवल शैंपेन की बोतलों में खर्च हो गये। आप यदि चखेंगे भी नहीं तो मुझे बहुत दुःख होगा। मैं बड़े धर्मसंकट में पड़ गया। मुझे संकोच में देखकर इंदिराजी ने बीयर की बोतल उठा

ली और कहा, 'इसमें नशा नहीं होता, यह तो शर्बत की तरह ही है। इसे ही थोड़ा पी लीजिए।' उनके चारों ओर खड़े अन्य समागत सज्जनों ने भी हामी भर दी। मैं विवश हो गया और बीयर का गिलास उनके हाथ से लेकर पी गया परंतु ज्योंही मैंने गिलास खाली कर के रखना चाहा, इंदिराजी ने जो बीयर की बोतल लिये खड़ी थीं, तुरंत मेरा गिलास फिर से भर दिया। उसे भी मैंने पी तो लिया परंतु झट से उठकर गिलास रख आया कि कहीं फिर न इसे भर दें। वहाँ मेरी ग़ज़लें खूब सुनी गयीं और सराही भी गयीं। किसी समागत हिंदी कवि ने कहा कि गुलाबजी के बाद दुष्यंत कुमार ने भी ग़ज़लें लिखी हैं। और यह कहकर उन्होंने दुष्यंत कुमार की ग़ज़ल की पुस्तक में से, जो उन्हीं दिनों प्रकाशित हुई थी, पहला पृष्ठ खोलकर पढ़ना शुरू किया। परंतु उसका पहला शेर सुनते ही एक प्रमुख शायर ने कहा, 'यह तो वजन से गिरता है।' और उन्हें पढ़ने से रोक दिया। उर्दूवालों में छंद के निर्वाह का बहुत कड़ा आग्रह है। भाव तो उनके प्रायः एक ही प्रकार के परिवेश में घूमते हैं, यदि छंद ठीक नहीं हो तो वे आगे और कुछ भी सुनना नहीं चाहेंगे। संध्या के करीब पाँच बज चुके थे और मेरा ट्रेन का समय हो गया था। सामान तो इंदिराजी की मोटर में पड़ा ही था। वे और शेषेंद्रजी स्वयं मुझे स्टेशन तक पहुँचाने को गाड़ी में बैठ गये। इंदिराजी की कोठी 55-56 एकड़ में विस्तृत, उनके बाग में अवस्थित है। वे भारत की अत्यंत धनाढ्य महिलाओं में है और केवल उनके काव्यप्रेम ने कवि के नाते मुझे उनके और उनके पति के विशेष समीप ला दिया था। उनके पति अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के अंग्रेजी के और तेलगू भाषा के साहित्यकार हैं। स्वयं इदिराजी अंग्रेजी की मान्य कवयित्री हैं और उनसे निकटता स्थापित हो जाना हैदराबाद की यात्रा की मेरी बड़ी उपलब्धि थी। मैं बाद में भी कितने ही दिनों उनकी कोठी में ठहरा हूँ। उसके विशाल कक्षों को भिन्न-भिन्न शताब्दी की योरोपीय साज-सज्जा से सजाया गया है। इस महान एवं समृद्ध दंपती के पास इतनी विशाल संपत्ति होते हुए भी पुत्र या पुत्री के रूप में किसी उत्तराधिकारी का न होना भी एक विडंबना ही है।

मेरे मोटर में बैठने के समय तक बीयर ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारंभ कर दिया था। मेरा माथा चक्कर खा रहा था और जब मोटर स्टेशन पर पहुँची तो पूरा स्टेशन जैसे भूंकप में डोल रहा हो, ऐसा लगता था। मुझे डर था कि मोटर के बाहर खड़ा होते ही मैं गिर न पड़ूँ। मैंने किसी तरह इंदिराजी और शेषेंद्रजी को मोटर से उतरे बिना बरबस विदा किया और डगमगाते हुए कदमों से कुली

के सिर पर सामान लदवा कर अपने आरक्षित डिब्बे में प्रवेश किया जो स्टेशन पर खड़ा था और जिसमें भगवानदासजी माहौर एवं सुमित्रानंदनजी पहले से ही विराजमान थे। नशे की हालत में भी कविता देवी किस प्रकार प्रकट हो जाती हैं यह मैंने उस दिन देखा क्योंकि मेरी एक ग़ज़ल बनकर तैयार थी जिसे मैंने तुरत लिख लिया। उसके प्रारंभ के तीन शेर हैं ---

बहकी हुई है चाल कोई देखता न हो
ऐसा हमारा हाल कोई देखता न हो
हम चाहते हैं प्यार तेरा देख ले दुनिया
यह भी है पर ख़याल, कोई देखता न हो
क्या तू न खुद को भी था दिखाने को बेकरार
तब क्यों है यह सवाल कोई देखता न हो

अलेप्पी को रवाना होते समय मैंने अपनी पुस्तक **कच-देवयानी** इंदिराजी को भेंट कर दी थी। इंदिराजी और शेषेंद्रजी ने भी अपनी लिखी अंग्रेजी कविताओं की पुस्तकें मुझे दी थीं। मैंने उनसे वादा किया था कि अलेप्पी से लौटते समय मैं उनके साथ एक सप्ताह बिताऊँगा और पुनः उन्हें अपनी कविताओं को सुनाने के लिए एक आयोजन करने का अवसर दूँगा।

दुबारा जब मैं अलेप्पी से लौटते समय इंदिराजी के आवास पर रुका तो वे मेरी पुस्तक **कच-देवयानी** की परम प्रशंसिका बन गयी थीं। अपनी कोठी पर मेरे लिए किये गये दूसरे आयोजन में उन्होंने ग़ज़लें सुनाने के पूर्व मुझसे कहा, 'आपने **कच-देवयान** से श्रेष्ठ कोई पुस्तक नहीं लिखी है। यही नहीं, पिछले 50 वर्षों में इसके जैसा श्रेष्ठ प्रबंधकाव्य किसी भी भारतीय भाषा में नहीं लिखा गया।' उनके पति ने भी मुक्त कंठ से उनकी बात का अनुमोदन किया। फलतः मुझे ग़ज़लों के पूर्व **कच-देवयानी** की समूची पुस्तक पढ़कर सुनानी पड़ी। हैदराबाद की इस दूसरी यात्रा में मैं यथेष्ट समय शेषेंद्रजी तथा इंदिराजी के साथ बिता सका। उस समय तक अप्रकाशित, मेरे सॉनेट-संग्रह की इंदिराजी से चर्चा हुई और उन्होंने ही उसका नाम **सीपी-रचित रेत** मुझे सुझाया। उन्होंने उस पुस्तक की भूमिका लिखने का भी मुझे वचन दिया था परंतु उनकी व्यस्तता से विलंब होने के कारण, मैंने वह पुस्तक उन्हें समर्पित करके ही संतोष कर लिया। शेषेंद्र शर्माजी से मेरे माध्यम से नरेश मेहताजी ने जो परिचय पा लिया था उसका भरपूर लाभ उन्हें मिला। उनकी काव्य-पुस्तक पर शेषेंद्र शर्मा ने

अत्यंत विद्वत्तापूर्वक भूमिका लिखी और उस पुस्तक पर उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हो गया। हो सकता है, नरेश मेहताजी को शेषेंद्र शर्मा जैसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान की भूमिका के अतिरिक्त अन्य विशिष्ट सज्जनों का सहयोग भी इस महत् उपलब्धि में सहायक हुआ हो। मैंने जीवन में कभी पद-पुरस्कार की दृष्टि से उस समय तक विचार ही नहीं किया था अन्यथा माननीय गंगाशरण सिंहजी, कर्णसिंहजी, शंकरदयाल सिंहजी जैसे अपने प्रभावशाली प्रशंसको को यदि इस संबंध में मैंने कभी संकेत भी दिया होता तो यह कोई कठिन कार्य नहीं था। परंतु जैसा मैंने अपनी एक पुस्तक की भूमिका में लिखा है, 'जिसे सरस्वती स्वयं ही निरंतर पुरस्कृत करती आ रही हो उसे किसी अन्य दिशा में देखने की आवश्यकता ही क्या है!' मुझे अपनी स्थिति से पूर्ण संतोष है। मैंने अपने निम्नलिखित गीत में अपनी इस भावना को यों व्यक्त किया है—

चला मैं सदा लीक से हटके
कौन, कहाँ, कब, क्या कहता है, देखा नहीं पलटके
थी अहैतुकी कृपा तुम्हारी
दूर हुई कुंठाएं सारी
करें कूपहित क्यों श्रम भारी
वासी गंगातट के !
पूजा में ही जो सुख पाता
वह प्रसाद को कब अकुलाता !
तुझसे जिसने जोड़ा नाता
द्वार-द्वार क्यों भटके !
अब मैं, नाथ ! और क्या माँगू !
इसी भाव में सोऊँ, जागूँ
हँसते, गाते यह तन त्यागूँ
चिंता पास न फटके
चला मैं सदा लीक से हटके
कौन, कहाँ, कब, क्या कहता है, देखा नहीं पलटके